ISSN No. 0971-796 X

वर्ष 12, अंक 3, अक्तूबर-दिसम्बर '2000 ई०

"अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः"

।। श्रावक संघोऽस्तु मंगलम् ।।

6 अप्रैल 2001 रविवार, को घटित दुर्घटना के परिप्रेक्ष्य में विशेष विचारणीय

आवरण पृष्ठ के बारे में

कहा जाता है कि तीर्थंकर की धर्मसभा में परस्पर विपरीत प्रकृतिवाले पशु-पक्षी भी एक साथ अविरोध-भाव से बैठते हैं, ऐसा दिव्य-प्रभाव उस सभा का होता है; इसीप्रकार विरागी जैनसंतों के सान्निध्य में तो शेर और गाय के भी एक ही घाट पर पानी पीने की किंवदन्तियाँ प्रचलित हैं। इसी भाव को द्योतित करनेवाले इस आवरण-चित्र में न कवेल सिंह और गाय को एक ही घाट पर पानी पीते दिखाया गया है, अपितु उनकी सन्तति भी ममता की छाँव में समता का अद्‌भुत निदर्शन प्रस्तुत कर रही हैं। सिंह-शावक गाय का दुग्धपान कर रहा है, तो गाय के बछड़े को सिंहनी भी वात्सल्यपूर्वक स्तनपान करा रही है।

धर्मसभा की ऐसी अद्‌भुत महिमाशाली परम्परा रही है; किन्तु 6 अप्रैल 2001 दिल्ली के 'इन्दिरा गाँधी इन्डोर स्टेडियम' में आयोजित 'भगवान् महावीर के 2600वें जन्मकल्याणक महोत्सव' के शुभारम्भ-समारोह में जैसी स्थिति का निर्माण हुआ, वह जैनसमाज की एकता एवं संगठन के लिए अत्यन्त घातक है। धर्मसभा में तो पशु-पक्षी भी बैरभाव भुलाकर बैठते हैं, और हम मनुष्य श्रावक होकर भी अपने मतभेदों को भुलाकर सौहार्दपूर्वक नहीं बैठ सके; तो इसके कारणों की गंभीरता से मीमांसा अपेक्षित है। हमें अपने ज्ञान को विवेक का चाबुक लगाकर सही दिशा में गतिशील करने की अपेक्षा है।

चूंकि दिगम्बर एवं श्वेताम्बर —इन दो सम्प्रदायों में कुछ आचारपरक विचारधारा का मतभेद तो है; किन्तु अब वे बातें मूलभूत सिद्धान्तों को प्रभावित करने लगीं हैं; और हम अहिंसा, अनेकान्त, स्याद्‌वाद और अपरिग्रह के मूलभूत सिद्धान्तों पर इन मतभेदों को हावी करने लगे हैं —यह शुभ-संकेत नहीं हैं।

सम्प्रदाय तो दिगम्बरों में भी हैं, और श्वेताम्बरों में हैं। दिगम्बरों में तेरहपंथी, बीसपंथी, तारणपंथी एवं मुमुक्षुमंडलवाले आदि हैं; तो श्वेताम्बरों में भी अनेकों गण-गच्छ के भेद हैं; जैसेकि तपागच्छ, खरतरगच्छ आदि। किन्तु इन भेदों के बाद भी वे सभी श्वेताम्बर या दिगम्बर शाखाओं के अन्तर्गत आ सकते हैं, तो हम सभी मिलकर जैनत्व में समाहित नहीं हो सके —ऐसी क्या बाधा आ गयी थी?

ध्यान रहे यदि जैनसमाज से विचारों की सहिष्णुता खो गयी, तो अनेकान्त की चर्चा अपने मायने खो देगी। तथा यदि वाणी की सहिष्णुता समाप्त होने लगी, तो फिर स्याद्‌वाद-पद्धति का क्या औचित्य रह जायेगा? और यदि वैभव के प्रदर्शन एवं संसाधनों के न्यूनाधिक्य से विषमता का भाव बना रहा, तो फिर अपरिग्रहवाद कब हमारे जीवन को समता व सहिष्णुता का प्रयोग सिखा पायेगा?

यह घटना हमें गंभीर विचारमंथन के लिए प्रेरित करती है कि महावीर के जिन सिद्धांतों को समझकर पूंछवाले (तिर्यंच) वैर भुला बैठे, उन सिद्धांतों के गीत गाकर भी हम मूंछवाले (मनुष्य) शायद उनके अर्थ को भी नहीं समझ सके हैं। —**सम्पादक**

ISSN No. 0971-796 X

।। जयदु सुद-देवदा।।

प्राकृत-विद्या
पागद-विज्जा

PRAKRIT-VIDYA
Pagad-Vijja

शौरसेनी, प्राकृत एवं सांस्कृतिक मूल्यों की त्रैमासिकी शोध-पत्रिका

The quarterly Research Journal of Shaurseni, Prakrit & Cultural Values

वीरसंवत् 2527 अक्तूबर-दिसम्बर '2000 ई० वर्ष 12 अंक 3
Veersamvat 2527 October-December '2000 Year 12 Issue 3
आचार्य कुन्दकुन्द समाधि-संवत् 2013

मानद प्रधान सम्पादक
प्रो० (डॉ०) राजाराम जैन
निदेशक, कुन्दकुन्द भारती जैन शोध संस्थान

Hon. Chief Editor
PROF. (DR.) RAJA RAM JAIN
Director, K.K.B. Jain Research Institute

मानद सम्पादक *Hon. Editor*
डॉ० सुदीप जैन DR. SUDEEP JAIN
एम.ए. (प्राकृत), पी-एच.डी. M.A. (Prakrit), Ph.D.

प्रकाशक
श्री सुरेश चन्द्र जैन
मंत्री
श्री कुन्दकुन्द भारती ट्रस्ट
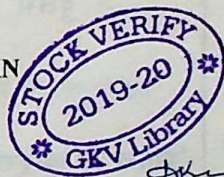
Publisher
SURESH CHANDRA JAIN
Secretary
Shri Kundkund Bharti Trust

★ वार्षिक सदस्यता शुल्क – पचास रुपये (भारत) 6.0 $ (डालर) भारत के बाहर
★ एक अंक – पन्द्रह रुपये (भारत) 1.5 $ (डालर) भारत के बाहर

श्री कुन्दकुन्द भारती (प्राकृत भवन)
18-बी, स्पेशल इन्स्टीट्यूशनल एरिया,
नई दिल्ली-110067
फोन (011) 6564510
फैक्स (011) 6856286

Kundkund Bharti (Prakrit Bhawan)
18-B, Spl. Institutional Area
New Delhi-110067
Phone (91-11) 6564510
Fax (91-11) 6856286

RA
CO
राजारा - प्रा

'आम्नाय' का वैशिष्ट्य

"वाचना-पृच्छनानुप्रेक्षाम्नायधर्मोपदेशा: ।"

अर्थात् वाचना, पृच्छना, अनुप्रेक्षा, आम्नाय और धर्मोपदेश —ये पाँच स्वाध्याय के अंग हैं।

"अष्टस्थानोच्चारविशेषेण यच्छुद्धं घोषणं पुन: पुन: परिवर्तनं स आम्नाय: कथ्यते ।"

—*(आ० श्रुतसागर सूरि, तत्त्वार्थवृत्ति, नवम अध्याय, 25)*

कण्ठ, तालु आदि आठ उच्चारण-स्थानों की विशेषता से जो शुद्ध घोषण/उच्चारण बारम्बार परिवर्तनपूर्वक किया जाता है, उसे 'आम्नाय' कहते हैं।

**

धन-कन-कंचन-राजसुख, सबहिं सुलभ कर जान।
दुर्लभ है संसार में, एक यथारथ ज्ञान।।

**

कातन्त्रव्याकरणम्

'कातन्त्रं हि व्याकरणं पाणिनीयेतरव्याकरणेषु प्राचीनतमम् । अस्य प्रणेतृविषयेऽपि विपश्चितां नैकमत्यम् । एवमेव कालविषये नामविषये च युधिष्ठिरो हि कातन्त्रप्रवर्तनकालो विक्रमपूर्व तृतीय-सहस्राब्दीति मन्यते ।'

—*(लिखक : लोकमणिदाहल:, व्याकरणशास्त्रेतिहास:, भारतीय विद्या प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ 260)*

**

अनुक्रम

सम्पादकीय

गोरक्षा और गोवध

—डॉ० सुदीप जैन

कोशकारों ने 'गो' शब्द के जितने अर्थ प्ररूपित किये हैं, उतने अर्थ संभवत: अन्य किसी इतने लघुकाय शब्द के नहीं गिनाये हैं। व्युत्पत्ति का आश्रय लेकर 'गच्छतीति गो' के अनुसार किसी पशु-विशेष के रूप में रूढ़ इसे किया गया हो; परन्तु हमारे पूर्वज मनीषियों को इस शब्द का अभिप्राय पशु-विशेष तक सीमित करना न तो कभी इष्ट था और न ही इस दृष्टि से उन्होंने इस शब्द की व्याख्या प्रस्तुत की है। अन्यथा **गौरव**, **गवेषणा** जैसे जैसे 'गोमूलक' शब्द भी पशु-विशेष तक सीमित होते। किन्तु ऐसा नहीं होना यह सूचित करता है कि 'गो' शब्द अत्यन्त व्यापक अभिप्राय को अपने आप में समाहित किये हुए है।

कोशग्रन्थों के आधार पर ही संकलित कतिपय निदर्शन द्रष्टव्य हैं—

'गो' शब्द के अर्थ— तारे, आकाश, पृथिवी, प्रकाश की किरण, स्वर्ग, आत्मा, वाणी, सरस्वती देवी, शब्द, इन्द्रियाँ, सूर्य, चन्द्रमा, क्षितिज, समुच्चय, वृद्धि, चक्षु, माता आदि।

'गो' से निष्पन्न शब्द और उसके अर्थ— गोत्र (कुलगत-परिचय), गोधूम (गेहूँ), गोध्र (पर्वत), गोपति (शिव, वरुण, राजा), गोपुर (नगर का या घर का मुख्य दरवाजा), गोमेद (रत्न-विशेष), गोविद (बृहस्पति), गोर्द (मस्तिष्क), गोल (अंतरिक्ष या आकाशमंडल), गोष्ठी (सभा, समाज, प्रवचन), गौर (गोरावर्ण), गौरव (गुरुता, महत्त्व, आदर, सम्मान), गौरिल (सफेद सरसों), गौरी (तुलसी का पौधा, मल्लिकालता, कुमारी कन्या, पार्वती), इत्यादि।

उपर्युक्त कतिपय निदर्शन 'गो' शब्द के व्यापकत्व के बारे में सूचित करने के लिए पर्याप्त हैं। इनको देखकर यह कहना अत्युक्तिपूर्ण नहीं लगेगा कि 'गो' शब्द का अर्थ पशु-विशेष तक सीमित करना इसकी व्यापकता को बलात् संकुचित करना ही है। मुझे रूढ़ अर्थ के रूप में 'गाय' रूप पशुविशेष अर्थ से कोई आपत्ति या विरोध नहीं है; किन्तु इस व्यापक शब्द को एक रूढ़ अर्थ तक बाँधकर सीमित कर देने में अवश्य आपत्ति है।

क्योंकि इस सीमित दृष्टिकोण के कारण 'गोरक्षा' एवं 'गोवध-प्रतिकार' जैसे आन्दोलन अत्यन्त संकुचित क्षेत्र में सिमटकर रह गये हैं। यहाँ तक कि जनसामान्य में इन शब्दों से पशु-विशेष को बचाने की ही बात ध्यान में आती है। 'वाणी के प्रयोग' या 'बौद्धिक चिन्तन' के स्तर पर यदि कोई मर्यादा का उल्लंघन हो रहा हो, तो वह भी 'गोवध' है तथा उसका भी प्रतिकार करना 'गोवधप्रतिकार' एवं 'गोरक्षा' है —यह बात विचार में भी नहीं आ पाती है। इन्द्रियों का ज्ञानात्मक उपयोग न करके विषय-सेवनरूप प्रयोग भी 'गोवध' है तथा उनका संयमन भी 'गोरक्षा' है —इसकी तो कल्पना भी संभवत: आज के तथाकथित आन्दोलनकारी नहीं कर पाये हैं। पृथिवी-अग्नि-आकाश आदि के प्रति जो मर्यादित आचरण भारतीय संस्कृति के शाश्वत मूल्य रहे हैं, उनका आज वैज्ञानिक अनुसंधान, औद्योगिक प्रसार के नाम पर भौतिकवादी लिप्साओं के कारण जो अन्धाधुन्ध दोहन एवं अतिक्रमण हो रहा है, वह भी 'गोहत्या' या 'गोपीड़न' के रूप में परिभाषित हो सकता है— यह कथन तो गोरक्षावादियों को संभवत: विक्षिप्त-प्रलाप जैसा प्रतीत हो सकता है। किन्तु ये सब बातें चिरन्तन भारतीय सांस्कृतिक जीवनमूल्यों के अनुसार पूर्णत: सत्य हैं तथा भारतीय साहित्य, भाषाशास्त्र व कोशग्रन्थ इनके पोषक साक्ष्य हैं।

यही कारण था कि मुझे 'गो' शब्द का अर्थ 'पशु-विशेष' तक सीमित किये जाने से आपत्ति हुई। यह आपत्ति तो प्रत्येक चिन्तक, विचारक एवं भारतीय संस्कृति-साहित्य-इतिहास-भाषाशास्त्र आदि में आस्था रखनेवाले व्यक्ति को होनी ही चाहिये; क्योंकि इससे इतना महनीय शब्द अपनी व्यापकता खो रहा है। संभवत: गोरक्षा-आन्दोलनवालों को भी उनके आराध्य 'गो' शब्द का यह व्यापकरूप प्रसन्नता प्रदान करनेवाला ही सिद्ध होगा।

प्रस्तुत प्रकरण में यहाँ 'गो' शब्द के उस सारस्वतरूप की चर्चा मैं इष्ट समझता हूँ, जिसे सरस्वती, वाणी, शब्द, प्रवचन आदि सारस्वत अर्थों का प्रतिपादक माना गया है। इन अर्थों में यह शब्द अनेकत्र प्रयुक्त मिलता है, किंतु विस्तारभय के कारण एक-दो निदर्शन ही यहाँ प्रस्तुत करना अपेक्षित समझता हूँ।

'सरस्वती' अर्थ में 'गो' शब्द —

"गौ: श्री इति जटाधर:" —*(शब्दकल्पद्रुम, भाग 5, पृ० 289)*

"वाक् च सरस्वती इत्यमर:" —*(वही, भाग 4, पृ० 317)*

'किरातार्जुनीयम्' आदि साहित्य-ग्रन्थों में भी इस अर्थ में 'गो' शब्द प्रयुक्त प्राप्त होता है।

'वाणी' या 'वचन' के अर्थों में 'गो' शब्द —

"रघोरुदारामपि गां निशम्य" —*(रघुवंशमहाकाव्य, 5/12)*

तथा 'सूयगडंग' (1/13) में भी 'वाणी' के अर्थ में 'गो' शब्द का प्रयोग मिलता है।

'पृथ्वी' अर्थ में भी महाकवि कालिदास ने 'गो' शब्द का प्रयोग किया है—

"दुदोह गां स यज्ञाय शस्याय मघवा दिवम्।
सम्पद् विनिमयेनोभौ दधतुर्भुवनद्वयम्।।"

—(*शब्दकल्पद्रुम, भाग 4, पृष्ठ 369*)

संभवत: इन्हीं श्रेष्ठ अर्थों में प्रयुक्त एवं प्रचलित होने के कारण अतिविशिष्ट ज्ञाता गणधर इन्द्रभूति के कुल का नाम 'गौतम' पड़ा। 'गौ' अर्थात् सारस्वत ज्ञाता, तथा 'तम' अर्थात् सर्वश्रेष्ठ —इसप्रकार तत्कालीन मनीषीजनों में सर्वश्रेष्ठ होने से इनके कुल का नाम 'गौतम' अन्वर्थक था। तथा इनकी अतिविशिष्ट प्रतिभा के कारण ही इन्द्र ने अवधिज्ञान से इन्हें भगवान् महावीर का 'प्रधान शिष्य' या 'गणधर' होने योग्य पाया था। —यह कथा प्रायश: विदित होने से यहाँ उसका उल्लेख नहीं कर रहा हूँ।

विद्वज्जनों में विशेषत: 'गो'शब्द सारस्वत-अभिप्राय में प्रचलित एवं रूढ़प्राय: रहा है, यह उपर्युक्त विवरण से भलीभाँति स्पष्ट है। विशेषत: 'वाग्मी' या 'वाचंयमी' मनीषी के लिए इस शब्द से निर्मित विशेषण प्रयुक्त होते थे। इसीलिए वाणी के वैदुष्य एवं वाक्-संयम को 'गोरक्षा' का तथा 'गोवध-प्रतिकार' का प्रतीक माना जाता रहा है। तथा इसके विपरीत अभद्रवचन, लोक एवं शास्त्र की मर्यादा के विरुद्ध वचन तथा प्राणपीड़क-वचनों के प्रयोग को 'गोवध' का प्रतीक माना गया है। इस सम्बन्ध में 'ॠग्वेद' का एक मन्त्र द्रष्टव्य है—

"वाचोविदं वाचमुदीरयन्तीं, विश्वाभिर्धीभिरुपतिष्ठमानाम्।
देवीं देवेभ्य: पर्येयुषीं, गामा मा वृक्त मर्त्योदभ्रतेता:।।" —(*ॠग्वेद, 8/3/16*)

अर्थ :— वह वाणी, जो अपने वाक्स्वरूप के कारण स्वयं विदुषी है, जाननेवाली है, जो उदीर्ण होती है, ऊर्ध्वगमन करती है (क्योंकि वाक् नाभिकेन्द्र में सुप्तावस्था में स्थित होती है; किन्तु जब कोई व्यक्ति विवक्षा करता है, तब वह वहाँ से प्राणाग्नि की शिविका पर आरूढ होकर मुखयन्त्र के द्वारा स्फ़ोटरूप में अभिव्यक्ति ग्रहण करती है; अत: उसे ऊर्ध्वगमना कहा गया है) तथा जो विश्व की समस्त बुद्धियों से उपतिष्ठमान (अर्चित) है, जो दिव्यस्वरूपा (दैवी) है और जो देवताओं की ओर अभिगमन करती है (अर्थात् दिव्य तत्त्वों को प्रकाशित करती है); उस वाग्देवी को (जिसे 'कामदोग्ध्री' होने से 'कामधेनु' तथा 'गौ' शब्दों से प्रतीकरूप में कहा गया है) क्षुद्रमनवाला मनुष्य निहत या आहत न करे। असत्य-भाषण एवं अशुद्ध उच्चारण आदि भी 'वाग्वध' (गोहत्या) माना गया है। अत: विद्वान् और साधुपुरुष वाणी के सही उच्चारण एवं मर्यादित निर्दोष प्रयोग से 'गोरक्षा' (वाणी की रक्षा) करे।

वस्तुत: वाणी की मर्यादा का यह चिंतन अहिंसामूलक है। इसीलिए मनीषियों ने लिखा है— "अहिंसयैव भूतानां कार्यं श्रेयोऽनुशासनम्।
वाक् चैव मधुरा श्लक्ष्णा प्रयोज्या धर्ममिच्छता।।"

—(*शब्दकल्पद्रुम, भाग 4, पृष्ठ 317*)

अर्थ :— अहिंसकवचनों से ही प्राणियों का अनुशासन करना चाहिए (अर्थात्

अनुशासन के लिए भी कठोर वचनों का प्रयोग नहीं करना चाहिए)। तथा धर्माभिलाषियों को मधुर, सौम्य या स्निग्ध वाणी का प्रयोग करना चाहिए।

निर्दोष वचनों को सर्वज्ञता का प्रतीक माना गया है—

"प्रणम्य वाचं निःशेषपदार्थोद्योत-दीपिकाम्।" —*(कथासरित्सागर, 1/3)*

"इदं कविभ्यो पूर्वेभ्यो नमो वाचं प्रशास्महे।" —*(उत्तररामचरित, 1/1)*

अहिंसक-वचनों की महत्ता का प्ररूपण करते हुए जैनाचार्य लिखते हैं—

"क्षुद्रोऽपि नावमन्तव्यः स्वल्पोऽयमिति चिन्तया।
शिरस्याक्रमते तुच्छं यतः पादाहतं रजः।।"

अर्थ :— यह छोटा या क्षुद्र है — ऐसा मानकर किसी भी व्यक्ति का वाचिक अपमान नहीं करना चाहिए; क्योंकि तुच्छ मिट्‌टी/धूल भी पैर से ठोकर मारने पर उछलकर सिर पर चढ़ती है अर्थात् आक्रमण करती है।

इसीलिये जैन-परम्परा में साधु हो या श्रावक, सभी के लिये वाणी के प्रयोग की मर्यादाओं का विधान किया गया है, तथा उनका दृढ़ता से अनुपालन करने का निर्देश अनेकत्र दिया गया है। श्रमण हों या विद्वान्, आजकल प्रायशः शास्त्र के आधार के बिना इधर-उधर की घटनाओं की प्रमुखता से प्रवचन देने लगे हैं, तथा लोकरंजन की प्रमुखता उनके कथन में आ गई है। यह अत्यन्त शोचनीय स्थिति है, क्योंकि इससे हमारे शास्त्र की मर्यादा और आचार्यों के संदेशों की उपेक्षा होती है तथा वैयक्तिक अहम् के चक्कर में वाणीरूपी गो के वध की स्थिति निर्मित होने लगती है। इसीके निवारण के लिये श्रावकों को हित-मित-प्रिय वचन बोलना, सत्याणुव्रत आदि का विधान है; जबकि श्रमणों के लिये सत्य महाव्रत, भाषा-समिति एवं वचनगुप्ति जैसे नियम बनाये गये हैं। इनके परिणामस्वरूप जैन-परम्परा के व्यक्तियों के वचनप्रयोग अत्यन्त मर्यादित, अहिंसक और निर्दोष होते रहे है। वचनों के इन मर्यादित प्रयोगों को ईसापूर्व तृतीय शताब्दी में सम्राट् अशोक ने सारवृद्धि का कारण बताया है—**"इदं मूलं च वचिगुत्ती"** —*(गिरनार प्रशस्ति)*

'प्रतिक्रमण सूत्र' में भाषा के अनेकों दोषों की चर्चा की गयी है, तथा उनसे निरन्तर दूर रहने की भावना व्यक्त की गई है—

"तत्थ भासासमिदी—कक्कसा, कडुया, परुसा, णिट्‌ठुरा, परकोहिणी, मज्झंकिसा, अदिमाणिणी, अणयंकरा, छेयंकरा, भूदाण वहंकरा चेदि दसविहा भासा भासिदा, भासाविदा, भासिज्जंता वि समणुमण्णिदा; तस्स मिच्छा मे दुक्कडं।"

अर्थः—उनमें 'भाषा-समिति' दस प्रकार की है; उन दस प्रकारों को निम्नलिखित रूप में दिखाते हैं:— 1. **कक्कसा** (तूँ मूर्ख है, कुछ नहीं जानता —इत्यादि रूप सन्तापजनक 'कर्कश' भाषा है), 2. **कडुया** (तूँ' जातिहीन है, अधर्मी, पापी है, —इत्यादि रूप से उद्वेग उत्पन्न करनेवाली 'कटुक' भाषा है), 3. **परुसा** ('तूँ अनेक दोषों से दूषित है' —इसप्रकार

मर्म भेदनेवाली 'परुष (कठोर) भाषा है), 4. **णिट्ठुरा** ("तुझे मारूँगा, तेरा सिर काट लूँगा"—इसप्रकार की 'निष्ठुर' भाषा है), 5. **परकोहिनी** ("तेरा तप किसी काम का नहीं, तूँ निर्लज्ज है" —इस तरह की दूसरों को रोष उपजावनेवाली 'परकोपिनी' भाषा है), 6. **मज्झंकिसा** (ऐसी निष्ठुर भाषा, जो हड्डियों का मध्यभाग भी छेद दे, वह 'मध्यकृशा' भाषा है), 7. **अइमाणिणी** (अपना महत्त्व-ख्यापन करनेवाली अर्थात् अपनी प्रशंसा करनेवाली और दूसरों की निंदा करनेवाली 'अतिमानिनी' भाषा है), 8. **अणयकरा** (समान स्वभाववालों में द्वैधीभाव/द्वेषभाव पैदा कर देने वाली या मित्रों में परस्पर विद्वेष/विरोध करा देने वाली 'अनयंकरी' भाषा है), 9. **छेयकरा** (वीर्य, शील और गुणों की जडमूल से विनाश कर देनेवाली अथवा असद्भूत दोषों का उद्भावन/प्रकट करनेवाली 'छेदकरी' भाषा है) और 10. **भूयवहकरा** (प्राणियों के प्राणों का वियोग कर देने वाली 'वधकरी' भाषा है)। इसप्रकार की भाषा मैंने स्वयं बोली हो, दूसरों से बुलवाई हो और बोलते हुये दूसरे की मैंने अनुमोदना की हो, तो उक्त दस प्रकार के भाषा-सम्बन्धी मेरे दुष्कृत मिथ्या होवें।

किन्तु आज हम देख रहे हैं कि जैन-परम्परा के श्रमणों और श्रावकों में भाषा के संयम की वह गरिमापूर्ण परम्परा अब अपना स्वरूप खोती जा रही है। यह स्थिति जैनसंघ के लिये शुभ-संकेत नहीं है। आज यदि तीर्थंकरों के युग से लेकर अनवरत रूप से आज तक जैन-परम्परा अपने यशस्वी प्रतिमानों के साथ चली आ रही है, तो उसका मूलकारण जैनसंघ की उपर्युक्त अनुशासनात्मक मर्यादित परम्परायें रही हैं और इन्हीं के कारण विश्वभर के दार्शनिकों एवं समाजशास्त्रियों ने जैन-परम्परा का महत्त्व मुक्तकंठ से स्वीकार किया है। जैनश्रमणों एवं श्रावकों ने इन मर्यादाओं का कठोरता से पालन किया, और जब कभी भी जैनसंघ ने इनके बारे में किंचित् मात्र भी शिथिलता दिखाई है, तो युगप्रधान आचार्य कुन्दकुन्द जैसे अनुशास्ता आचार्यों ने दृढ़तापूर्वक इसके परिष्कार के लिये स्पष्ट निर्देश प्रदान किये हैं। और इन्हीं कारणों से आचार्य कुन्दकुन्द दिगम्बर जैन-परम्परा के प्रमुख अनुशास्ता आचार्य माने गये हैं।

हम अपने आपको कुन्दकुन्द जैसे महान् आचार्यों की परम्परा में गर्वपूर्वक घोषित करते हैं, तथा यदि उनकी मर्यादाओं एवं निर्देशों का पालन न कर वाणीरूपी गोवध एवं गोप्रताड़न जैसे दुष्कर्म करेंगे, तो उसका परिणाम हमें अवश्य भोगना पड़ेगा।

गोरक्षा के आंदोलनकारियों के अतिरिक्त जैनसमाज के समस्त पूज्य श्रमणों, श्रमणाओं, श्रावक-श्राविकाओं, विद्वानों, लेखकों, विचारकों एवं जिज्ञासुजनों की सेवा में यह आलेख मात्र इसी भावना से यथायोग्य सबहुमान समर्पित है, कि हम सभी मिलकर जैनसमाज में जिस किसी भी स्तर पर वाणी के दुष्प्रयोग की अमर्यादित परम्परा चल पड़ी हो, तो दृढ़तापूर्वक उसका निवारण कर उच्च आध्यात्मिक संदर्भों में गोरक्षा का पुनीत कार्य सम्पन्न करें। ताकि जैनसमाज इस देश को आदर्श नागरिक देकर भारतीय संस्कृति की एवं जैनसंस्कृति की यशस्वी परम्परा का संरक्षण और संवर्द्धन कर सके। ❖❖

अग्नि और जीवत्वशक्ति

—*आचार्य विद्यानन्द मुनि*

सामान्यत: तो लोग अग्नि के नाम से ही डरते हैं, और उसे दूर से ही हाथ जोड़ते हैं। किन्तु यह भी उतना ही बड़ा सत्य है कि अग्नि हमारे लौकिक जीवन का अविभाज्य अंग है, तथा इसके बिना हमारे सांसारिक कार्य चल नहीं सकते हैं। फिर भी अग्नि को जीव के रूप में जैसी विशिष्ट प्ररूपणा इस अनुपम आलेख में प्राप्त होती है, वैसी प्ररूपणा अन्यत्र अत्यंत दुर्लभ है। जैसे जल का स्वभाव अधोगमन है, वायु का स्वभाव तिर्यग्गमन है तथा अग्नि का स्वभाव ऊर्ध्वगमन है— इस बारे में किसी को कोई विरोध नहीं है; इसीप्रकार इस आलेख में अग्नि की जीवत्वशक्ति को भी अविरोधीरूप में अत्यंत प्रभावी रीति से सिद्ध किया गया है। आज के भौतिकतावादी भले ही इस तथ्य को माने या नहीं मानें, किन्तु यह आलेख न केवल अग्नि की जीवत्वशक्ति प्रमाणित करता है; अपितु भारतीय परम्परा में अग्नि को किसी न किसी रूप में जो पूजा, आराधना या आदरभाव दिया जाता रहा है, उसकी तार्किकता भी सिद्ध करता है। साथ ही ज्ञान एवं साधना के शिखर पर विराजमान एक अद्वितीय मनीषी साधक की लेखनी से प्रसूत होने के कारण इसकी महत्ता स्वत: प्रमाणित हो जाती है। आशा है 'प्राकृतविद्या' के जिज्ञासु पाठकों के लिये यह आलेख पर्याप्त परिमाण में ज्ञानभोजन प्रस्तुत करेगा। —**सम्पादक**

प्राणवायु और जल की तरह 'अग्नि' भी प्राणियों के जीवन का अविभाज्य अंग है। हिमयुग की परिकल्पना से अग्नितत्त्व ही जीवन के प्रति आस्था एवं आत्मबल प्रदान करता है। भारतीय चिन्तन में अग्नि को पंचमहाभूतों के एक अंग के रूप में शाश्वत प्राकृतिक भौतिक तत्त्व माना गया है, किन्तु पारदृश्वा ऋषियों-मुनियों ने अपनी सूक्ष्मप्रज्ञा के द्वारा चिरकाल से यह प्रतिपादित किया कि **'अग्नि में जीवत्वशक्ति'** है। इसे वैज्ञानिक तथ्य के रूप में आधुनिक वैज्ञानिक भले ही प्रतिपादित और सिद्ध नहीं कर पाये हों, किन्तु यह एक ज्वलन्त सत्य है। मैं अपने अध्ययन और अनुसन्धान से प्राप्त तथ्यों के आधार पर इस बात की सप्रमाण पुष्टि करने की चेष्टा इस आलेख में करूँगा।

अग्नि की खोज

प्राकृतिक रूप में तो 'अग्नि' पाँच रूपों में सर्वत्र विद्यमान मानी गयी है— 1. दावाग्नि,

2. जठराग्नि, 3. बड़वाग्नि, 4. अन्त:अग्नि और 5. दैवी-अग्नि। इनमें से 'दावाग्नि' तो जंगल में लगने वाली प्राकृतिक (रगड़ से उत्पन्न) अग्नि को कहते हैं। तथा 'जठराग्नि' प्राणीमात्र के पेट में विद्यमान अग्नि है, जो उसके द्वारा ग्रहण किये गये भोजन को पचाने का कार्य क़रती है। इसीप्रकार 'बड़वाग्नि' समुद्र में विद्यमान वह अग्नि है, जो जल की प्रचंड लहरों के भीषण संघर्षण से उत्पन्न होती है। पौराणिक मान्यता के अनुसार यही अग्नि समुद्र को नियंत्रित रखती है और उसमें बाढ़ नहीं आने देती है। 'अन्त:अग्नि' वह है, जो प्राय: प्रकटरूप में न रहकर विभिन्न पदार्थों के अन्दर निहित होती है तथा परिस्थिति-विशेष में ही प्रकट होती है। ऐसी अग्नि के दृष्टान्तों में विद्वानों ने ज्वालामुखी की आग, शमीवृक्ष (**'शमीमिवाभ्यन्तरलीन पावकम्'** —*रघुवंश महाकाव्य, 3/9* तथा **'शमीगर्भादग्निं सन्यसि'** —*तैत्तरीय ब्राह्मण, 1-1-91*), मेघों में निहित अग्नि, जिसे 'तडित् विद्युत्' भी कहते हैं एवं सूर्यकान्त मणि आदि की अग्नि ली जाती है। तथा 'दैवी अग्नि' में सूर्य की अग्नि, जिसके ताप से धरती पर जीवन का संचार प्रतीत होता है एवं उल्का, धूमकेतु आदि प्रमुख हैं। वैदिक परम्परा में यज्ञीय अग्नि को भी 'दैवी अग्नि' कहा गया है, और इसे 'गार्हपत्य', 'आह्वनीय' एवं 'दक्षिण' —ये तीन भेद गिनाये गये हैं। भारतीय संस्कृति में कई पौराणिक चरित्र ऐसे हैं, जो अग्नि से उत्पन्न माने गये हैं, यथा— कार्त्तिकेय (अग्निभू:)। तथा द्रौपदी एवं धृष्टद्युम्न जैसे महाभारत के पात्र भी यज्ञ के हवनकुण्ड की अग्नि से उत्पन्न माने गये हैं। किन्तु मैं इन पौराणिक चर्चाओं में न जाकर अग्नि के वैज्ञानिक आधारवाले निर्विवाद तथ्याधारित स्वरूप का उल्लेख करूँगा, जिसमें जीवत्वशक्ति स्फुटरूप से अनुभूतिसिद्ध है।

आधुनिक वैज्ञानिक यह कहते हैं कि आदिमानव ने क्रमश: विकसित मानसिकता के परिणामस्वरूप दो सूखी लकड़ियों को रगड़कर अग्नि उत्पन्न की थी। इसके पहिले प्राकृतिकरूप से जंगलों में सूखे बाँस व लकड़ियों क़ी रगड़ आदि से अग्नि प्रज्वलित होती थी, किन्तु वह मनुष्य द्वारा अपने प्रयत्न से उत्पन्न अग्नि नहीं थी।

जैन-परम्परा के अनुसार जब भोगभूमियाँ लुप्त होने लगीं तथा कर्मभूमि का युग प्रारम्भ हुआ, तो अन्न को पकाकर कैसे खाया जाये? —इसकी समस्या उत्पन्न हुई। तब प्रजाजन अपनी समस्या लेकर 'कुलकर' के पास गये, जिन्हें 'प्रजापति' भी कहा जाता है। जैन मान्यतानुसार ये 'कुलकर' या 'प्रजापति' वे व्यक्ति कहलाते हैं, जो 'कर्मभूमि' का युग आरम्भ होने पर प्रजा को श्रम करके जीवनयापन की व्यावहारिक शिक्षायें देते थे। तब 'कुलकर' ने उन्हें कहा कि—

"मथिदूण कुणह अग्गिं।" —*(आचार्य यतिवृषभ, 'तिलोयपण्णत्ति', 2/1595)*

अर्थात् दो पदार्थों को, दो पत्थरों या दो सूखी लकड़ियों आदि को मथकर/रगड़कर अग्नि उत्पन्न करो।

यह उनकी मौलिक शोध थी, जो उन्होंने प्रजा को बतलाई; इससे अग्नि उत्पन्न कर उसमें अन्नादि पकाकर भोजन करने की परम्परा प्रवर्तित हुई।

न केवल जैन-परम्परा में अग्नि की चर्चा है, अपितु 'विश्व के प्राचीनतम साहित्य' के रूप में विश्रुत 'ऋग्वेद' में भी ऋषिगण अग्नि के बारे में लिखते हैं—

'त्वमग्ने:' —*(ऋग्वेद, 2/1/1)*

अर्थात् तुम्हीं अग्निस्वरूप हो।

'अरिणी' —*(ऋग्वेद, 3-7-3)*

"अरणिस्थ यथा ज्योति: प्रकाशान्तरकारणम्।
तद्वच्छन्दोपि बुद्धिस्थ: श्रुतीनां कारणं पृथक्।।" —*(वाक्यपदीयम्, 1/46)*

अर्थ :— जिसप्रकार अरणि (शमी और पीपल की लकड़ी) में स्थित ज्योति दोनों की रगड़ से प्रकाशित होने में कारण है, उसीप्रकार बुद्धि (लब्धि) में स्थित श्रुतरूपज्ञान शब्द के प्रयोग से प्रकट होता है।

इसी बात को आध्यात्मिकरूप में व्यक्त करते हुए ऋषिगण लिखते हैं—

'ब्रह्म वा अग्नि:' —*(कौशीतकी ब्राह्मण, 9/1/5)*

अर्थ:— परमात्मा अग्नि के समान है, तेज:पुञ्ज रूप है।

'वह्निमूर्ति' —*(सहस्रनाम, 2/5)*

अर्थ :— अग्नि के समान ऊर्ध्वगमन स्वभाव होने से अथवा कर्मरूपी ईंधन को जलाने से आप 'वह्निमूर्ति' कहलाते हैं।

'योऽग्नौ तिष्ठन्नग्नेरन्तरो.....यस्याग्नि: शरीरं' —*(बृहदारण्यक उपनिषद्, 3/7/8)*

अर्थ:— जो आत्मा अग्निमय स्थित है और अनग्नि से भिन्न है। वही (अग्नि) उसका शरीर है।

अग्नि का स्वरूप उष्णतामय है, उष्णता ही उसका लक्षण है। जैसाकि आचार्य भट्ट अकलंकदेव ने लिखा है—

'यथा अग्नेरात्मभूत उष्णपर्यायो लक्षणं न धूम:' —*(राजवार्तिक, 1/13/8)*

अर्थ:— अग्नि का आत्मभूत लक्षण उष्णता है, धूमादि नहीं।

फिर भी विद्वानों ने इस अग्नि को अनेकरूप प्रतिपादित किया है—

'एकोऽप्यग्निर्यथा तार्ण्य: पार्ण्य: दार्व्यस्त्रिधोच्यते' —*(पञ्चाध्यायी, 2/637)*

अर्थ:— अग्नि यद्यपि एक ही है, तो भी वह (i) तिनके की अग्नि, (ii) पत्ते की अग्नि और (iii) लकड़ी की अग्नि —इसप्रकार तीन प्रकार की कही जाती है। इन्हें ब्राह्मणाग्नि, क्षत्रियाग्नि और वैश्याग्नि के रूप में भी जाना जाता है।

'सुद्धागणी य अगणी य' —*(मूलाचार, 5/211)*

अर्थ:— मेघ की अग्नि शुद्ध एवं 'ब्राह्मणवर्णा' मानी गयी है, तथा सूखी लकड़ियों

(अरिण) को रगड़ने से उत्पन्न अग्नि 'क्षत्रियवर्णा' मानी गयी है। **'अरणी'** —*(ऋग्वेद, 3/7/3)* काष्ठ-विशेषों की अग्नि शुद्ध मानी गयी है।

महान् आध्यात्मिक ग्रंथ 'समयसार' की 14वीं गाथा की टीका में आचार्य अमृतचन्द्र लिखते हैं— **"सप्तार्चि:"** अर्थात् अग्नि सात प्रकार की है। इन सात प्रकार की अग्नियों के नामों का उल्लेख 'अमरकोश' में निम्नानुसार मिलता है— 1. काली, 2. कराली, 3. मनोजुषा, 4. सुलोहिता, 5. सुधूम्रवर्णा, 6. स्फुलिंगिनी और 7. विश्वदासाख्या।

अग्निकायिक जीवों के भेद

"इंगाल-जाल-अच्ची-मुम्मुर-सुद्धागणी य अगणी य।
अण्णेवि एवमाई तेउक्काया समुद्दिट्ठा।।"
—*(पंचसंग्रह 79, पृ० 16, धवला पुस्तक भाग 1, पृ० 273, गाथा 152)*

अर्थात् अंगार, ज्वाला, अर्चि (अग्निकिरण), मुरमुर (निर्धूम और ऊपर राख से ढँकी हुई अग्नि), शुद्ध-अग्नि (बिजली और सूर्यकान्तमणि 'यथार्ककांत:' समयसार कलश, 175) से उत्पन्न अग्नि), और धूमवाली अग्नि इत्यादि अन्य अनेक प्रकार के तेजस्कायिक जीव कहे गये हैं।

चार पर्याप्ति— (1) आहार, (2) शरीर, (3) इन्द्रिय और (4) श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति —ऐसी चार पर्याप्तियाँ नामकर्म के उदय से एकेन्द्रिय जीवों को प्राप्त होती हैं।

"इंगाल जाल अच्ची मुम्मुर सुद्धागणी य अगणी य।
वण्णादीहि य भेदा सुहुमाणं णत्थि ते भेदा।।" —*(वही, जीवसमास 77)*

अर्थात् ज्वाला, अर्चि (अग्निकिरण), मुरमुर (निर्धूम राख से ढँकी हुई अग्नि), शुद्ध-अग्नि (बिजली और सूर्यकान्तमणि से प्राप्त अग्नि), और धूमवाली अग्नि इत्यादि स्थूल अग्नि के भेद कहे गये हैं। ये भेद सूक्ष्म अग्नि के नहीं हैं। (सूक्ष्म अग्नि तो अनेक प्रकार की है)।

यही बात आचार्य अमृतचंद्र भी लिखते हैं—

"ज्वालाङ्गारास्तथार्चिश्च मुर्मुर: शुद्ध एव च।
अग्निश्चेत्यादिका ज्ञेया जीवा ज्वलनकायिका।।" —*(तत्त्वार्थसार 2/64)*

इसीलिये अग्नि को जीव मानते हुये जैन-परम्परा में अग्निकायिक जीवों की विराधना को पाप माना गया है और प्रतिक्रमण करते समय उसके प्रति खेद व्यक्त किया गया है— **"पुढवी-जलग्गिवाऊ ते वि वणप्फदी य वियलतया।**
जे जे विराहिदा खुल मिच्छा मे दुक्कडं होंज्ज।।" —*(कल्लाणालोयणं, 16)*

अर्थ :— पृथ्वीकायिक जीव, जलकायिक जीव, अग्निकायिक जीव, वासयुकायिक जीव, वनस्पतिकायिक जीव और विकलत्रय जीवों में से जो-जो मुझसे विराधना हो गये हों, उनकी विराधना से होनेवाला सब पाप मेरा मिथ्या हो।

इसीकारण जैन-परम्परा में यह भी कह दिया कि जो अग्निकायिक जीवों की सत्ता नहीं मानता है, वह मिथ्यादृष्टि है तथा सम्यग्दृष्टि जीव इनकी सत्ता को अवश्य मानते हैं— **"जे तेउकाय जीवे अदिसद्दहदि जिणेहि पण्णत्तं।**

उवलद्धपुण्णपावस्स तस्सुवट्ठाणा अत्थि।।"

—*(आचार्य कुन्दकुन्द, मूलाचार 10/140)*

अर्थ :— जो तीर्थंकर देव ने कहे हुये अग्निकायिक जीवों को और तदाश्रित सूक्ष्म जीवों के ऊपर श्रद्धान रखता है तथा पुण्य-पाप का स्वरूप जानता है, वह मुक्ति-मार्ग में स्थिर रहता है।

महर्षि मनु ने अग्नि को 'वैराग्य का प्रतीक' भी बताया है—

'अनग्निरनिकेत: स्यात्' —*(मनुस्मृति, 6/43)*

अर्थ:— अग्नि वैराग्य का रूप है (अर्थात् विरक्त साधुजनों को अग्नि- प्रज्वालन नहीं करना चाहिए)।

महात्मा बुद्ध ने भी लिखा है कि वे साधु जीवन में अग्नि नहीं जलाते थे—

"सो तत्तो सो सीनो एको मिसनके वने।

नग्गो न च आर्गी असीनो एकनापसुतो मुणीति।।"

—*(मज्झिमनिकाय, महासीहनाद सुत्त, 12)*

अर्थ:— कभी गर्मी कभी ठंडक को सहता हुआ भयानक वन में नग्न रहता था। **मैं आग से तापता नहीं था।** मुनि अवस्था में ध्यान में लीन रहता था।

इस बात की पुष्टि इस वैदिकपुराण में भी मिलती है—

'वह्नौ सूक्ष्मजीववधो महान्' —*(स्कन्दपुराण, 59/9)*

अर्थ:— अग्नि जलाने में अनेकों सूक्ष्म जीवों का महान् वध होता है।

यह कथन यहाँ विशेषत: इसलिये भी मननीय है कि **यह एक वैदिक पुराणग्रंथ का उल्लेख है।**

जब डॉ० जगदीशचन्द्र बसु ने वनस्पति में जीव होने की बात कही, तो उन्हें इस स्थापना का जनक ही मान लिया गया; किन्तु उनसे सहस्रों वर्ष पूर्व जैन आचार्यों ने वनस्पति को 'जीवकाय' कहा था। कहा ही नहीं, अमल भी किया था। जैन लोग हरी सब्जी खाने का निषेध 'अष्टमी' और 'चतुर्दशी' तिथियों को आज भी करते हैं। वे उसमें एकेन्द्रिय जीव मानते हैं। उनका यह मानना परम्परानुमूलक है, किसी आधुनिक वैज्ञानिक की स्थापना का परिणाम नहीं। यह दूसरी बात है कि उनकी परम्परा स्वयं अपने में आज के वैज्ञानिक तथ्यों पर खरी उतरती है।

डॉ० बेवस्टर की स्थापना है कि "वनस्पति में अत्यन्त शक्तिशाली संवेदना होती है।" रूस के प्रसिद्ध मनोविज्ञानी बी०एन० पुस्किन ने अपने अनेकानेक प्रयोगों के बाद

लिखा है कि **"वनस्पति में भी मनुष्य के नाड़ी-संस्थान जैसा ही कोई शक्तिशाली तत्त्व विद्यमान है।"**

वनस्पति की ही तरह जैनाचार्य अग्नि को भी जीव मानते हैं। उन्होंने उसे एकेन्द्रिय (स्पर्शन-इन्द्रियवाला) जीव कहा है। अग्नि के चार भेद होते हैं— 1. अग्नि, 2. अग्निजीव, 3. अग्निकायिक और 4. अग्निकाय। 'अग्निजीव' वह है, जो पूर्वकाय को छोड़कर अग्निकायिक पर्याय को धारण करने के लिए 'विग्रहगति' में होता है। अर्थात् जो जीव अभी अग्निकायिक बन नहीं पाया है, बननेवाला है। जिसकी पर्याय अग्निकायिक बनने के लिए निर्धारित हो चुकी है और जो अग्निरूप धारण करनेवाला है; किन्तु अभी तक अग्निरूप हो नहीं सका है। वह चल पड़ा है, रास्ते में है, पहुँचनेवाला है; ऐसा जीव 'अग्निजीव' कहलाता है। तथा वह जीव जब अग्नि को शरीररूप से ग्रहण कर लेता है, तब वह 'अग्निकायिक' कहलाता है अर्थात् अग्नि ही जिनका शरीर है, काया है, वे अग्निकायिक हैं। तथा जब जीव अग्नि से निकल जाता है, तब वह 'अग्निकाय' कहलाता है, जैसे मृतक शरीर। मुर्दे में आग लगाई जाती है। आग धू-धू कर जलती है। शरीर राख हो जाता है। और उसका जीव किसी अन्य पर्याय में प्रविष्ट होने के लिए चला जाता है; तब वह यह 'अग्निकाय' संज्ञा से अभिहित होता है।

यहाँ जैन-सन्दर्भ में अग्नि को समझ लेना अत्यावश्यक है। विक्रम की सातवीं-आठवीं सदी के दार्शनिक आचार्य भट्टाकलंक ने लिखा है कि "अग्निकायिक जीव अत्यधिक कृपालु होता है।" उनका कथन है— **"नव वै प्रदीप: कृपालुतयात्मानं परं वा तमसो निवर्तयति"** अर्थात् क्या आप नहीं जानते कि दीपक अपनी दयालुता के कारण ही स्व-पर के अन्धकार को दूर करता है। एक मनुष्य दीपक लेकर अन्धकार में जाता है और वहाँ प्रकाश फैल जाता है, जिससे वहाँ मौजूद सभी वस्तुओं को मनुष्य देख सकता है।

जैन-परम्परा में अग्नि में जीवत्वशक्ति ही मात्र नहीं मानी गयी है, अपितु उसका संसारी प्राणी के रूप में विधिवत् वर्गीकरण करके परिचय प्रस्तुत किया गया है। तदनुसार **अग्नि के चार प्राण** होते हैं— कायबलप्राण, स्पर्शनेन्द्रियप्राण, आयुप्राण (उत्कृष्ट तीन दिन या जघन्य अंतर्मुहूर्त), और श्वासोच्छ्वासप्राण।

जैन-परम्परा में शरीर की आंतरिक अस्थि-मज्जागत बंध-विशेष को 'संहनन' कहा गया है। प्रत्येक संसारी प्राणी के कोई न कोई 'संहनन' अवश्य होता है। 'अग्नि' के 'संहनन' के बारे में बताते हुए लिखा है—

'एकेन्द्रिय..... असंप्राप्तासृपाटिकासंहननं भवति।' —*(तत्त्वार्थवृत्ति, 8/11)*

अर्थ:— अग्नि के एक स्पर्शनेन्द्रिय तथा 'असंप्राप्तासृपाटिका' नामक कोमल संहनन है।

'अग्नि' का अर्थक्रियाकारित्व

जैन-परम्परा में प्रत्येक पदार्थ में 'अर्थक्रियाकारित्व' की प्रक्रिया मानी गयी है। इस

बात का प्ररूपण करते हुए जैनाचार्य लिखते हैं—

'यदेवार्थक्रियाकारि तदेव परमार्थसत्'[1] —*(कार्तिकेयानुप्रेक्षा, भाष्य 226)*

अर्थः— सत् का परमार्थ लक्षण अर्थक्रियाकारित्व है। तथा

'सत् द्रव्यलक्षणम्' —*(तत्त्वार्थसूत्र, 5/29)*

अर्थः— 'सत्' ही द्रव्य का लक्षण है।

'अनेकान्तमन्तरेण तस्यार्थक्रियाकर्तृत्वापपत्तेः'

—*(आचार्य वीरसेन, धवला 1/1/10, पृ० 168)*

अर्थः— अनेकान्तवाद के बिना उसका अर्थक्रियाकारित्व नहीं बन सकता। जिसप्रकार दीपक के भीतर रुई, आग, तेल और पात्र में तीनों विरोधी और भिन्न-भिन्न प्रकृति की वस्तुयें मिलकर कार्य करती दृष्टिगोचर होती हैं।

'एकस्यानेककार्यदर्शनादग्निवत्' —*(आचार्य पूज्यपाद, सर्वार्थसिद्धिः 9/3/79)*

अर्थः— अग्नि के एक होते हुए भी इसके एक समय में अनेक कार्य प्रत्यक्ष देखे जाते हैं।

इसी अर्थक्रियाकारित्व की शक्ति का प्रक्रियागत व्यापक चित्र जैनाचार्यों ने भली भाँति चित्रित किया है।

अग्नि की खोज

"जाणदि पस्सदि भुंजदि सेवदि फस्सिंदिएण[2] **ऍक्केण।**
कुणदि य तस्सामित्तं थावर-एइंदिओ तेण।।"

—*(आचार्य वीरसेन स्वामी, 'धवला' ग्रंथ, 1/1/33)*

अर्थः— अग्नि स्थावर-जातिवाला एकेन्द्रिय जीव है, वह अपनी उसी एक स्पर्शनेन्द्रिय के माध्यम से जानता है, देखता है, भोगता है, सेवन करता है और (अपने सम्पर्क में आगत ईंधन आदि पदार्थों का) स्वामित्व भी करता है।

अग्नि एकेन्द्रिय जीव है। उसके केवल स्पर्शन-इन्द्रिय होती है, किन्तु वह केवल इसी एक इन्द्रिय से अन्य चार इन्द्रियों — आँख, नाक, कान और मुँह का भी काम ले लेती है। जैनों के वरिष्ठ ग्रन्थराज 'धवला' के रचयिता ने इस कथन को निम्नलिखित शब्दों में पुष्ट किया है— "स्थावर नामकर्मोदय से जीव एक स्पर्शन-इन्द्रिय के द्वारा ही जानता है, देखता है, खाता है, सेवन करता है और स्वामीपना करता है; इसलिए उसे एकेन्द्रिय स्थावर जीव कहा है। वह लिंग, चिह्न और 'स्पर्श' से जाना जाता है, अतः एक ही इन्द्रिय से पाँच इन्द्रियों का काम लिया जाना संभव है। इसके अतिरिक्त उपयोगरूप भावेन्द्रिय का काम आकार व वस्तु को जानना ही है। एकेन्द्रिय जीवों में चैतन्य के चिह्न स्पष्ट दिखाई नहीं देते और वे चक्षु का विषय नहीं बन पाते; किन्तु ऐसा नहीं है कि वे चिह्न उसमें होते ही नहीं हैं। उसमें वे होते हैं, इसीलिए एकेन्द्रिय जीव अन्य चार इन्द्रियों का काम भी कर लेता है।" धवलाकार का उपर्युक्त कथन सत्य ही है।

जैनाचार्यों ने तो अग्निकायिक जीवों की संख्या भी स्पष्टरूप से 'पडिक्कमण-सुत्त' (5) में निर्देशित की है—

"चरित्तायारो तेरसविहो परिहाविदो पंच महव्वदाणि, पंच समिदीओ, तिगुत्तीओ चेदि।[3] तत्थ पढमं महव्वदं पाणादिवादादो वेरमणं, से पुढविकाइया जीवा असंखेंज्जासंखेंज्जा,[4] आऊकाईया जीवा असंखेंज्जासंखेंज्जा, तेऊकाइया जीवा असंखेंज्जासंखेज्जा, वाऊकाइया जीवा, असंखेंज्जासंखेंज्जा, वणफ्फदिकाइया जीवा अणंताणंता।।"[5]

इसके अनुसार **अग्निकायिक जीवों की संख्या असंख्यातासंख्यात है।**

यहाँ यह बात जानना भी आवश्यक है कि अग्नि की एक चिंगारी में असंख्य जीवों के असंख्य शरीर हैं। हम उन असंख्य जीवों के एकत्रीभूत पिण्ड को ही देख पाते हैं। एक जीव का शरीर तो इतना सूक्ष्म होता है कि हम उसे नहीं देख सकते। इसमें केवल स्पर्शन इन्द्रिय होती है, भले ही वह अन्य चार इन्द्रियों का काम एक ही इन्द्रिय से लेती हो; किन्तु है वह एकेन्द्रिय ही और स्पर्शन ही। यहाँ एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है कि पाँच इन्द्रियों में स्पर्शन को प्रथम स्थान क्यों दिया गया? इसका प्रथम कारण यह है कि स्पर्शन सर्वव्यापी है, जबकि अन्य इन्द्रियाँ ऐसी नहीं है। स्पर्शन-इन्द्रिय पूरे शरीर में फैली है, जबकि अन्य इन्द्रियाँ शरीर के एक भाग तक सीमित हैं अथवा शरीर के एक ही स्थान पर उपलब्ध हैं, अन्य स्थान पर वे कार्य नहीं कर सकतीं। दूसरा कारण है— विषय की दृष्टि में शक्तिशाली होना। किसी भी वस्तु का पहले स्पर्श होता है, फिर रस आदि की प्रवृत्ति होती है। 'विशेषावश्यक भाष्य' (गाथा 3001) में कथन है— "सब विषयों का ज्ञान होने की अर्हता के कारण एकेन्द्रिय होते हुए भी कुलवृक्ष पाँच इन्द्रियोंवाला है।"

पतज्जलि के 'योगभाष्य' में लिखा है — "स्पर्शन इन्द्रिय प्रत्येक प्राणी के सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त है।" इस एक स्पर्शनेन्द्रिय के साथ-साथ किसी न किसी रूप में विचारशक्ति एवं निर्णय क्षमता भी उसके होती ही है, भले ही 'मन' उनके नहीं होता है।

आगमकारों के एक कथन के कारण तीसरा प्रश्न समुत्थित हो उठा है। आगमकार साक्षात् द्रष्टा थे। उन्होंने निरूपित किया कि एकेन्द्रिय जीवों के मतिज्ञान तो होता ही है, श्रुतज्ञान भी होता है। श्रुतज्ञान का सम्बन्ध भाषा, श्रोत्रेन्द्रिय और मन की विकसित अवस्था से है, फिर वह एकेन्द्रिय में कैसे होता है? विज्ञान के कुछ प्रयोगों ने इस सच्चाई को सिद्ध कर दिया है। एक वृक्ष पर 'पॉलीग्राफ' यन्त्र लगाया गया। माली आया, तो उसमें कोई कम्पन नहीं हुआ; किन्तु एक लकड़हारा अपने कन्धे पर कुल्हाड़ी रखे आया, तो 'पॉलीग्राफ' की सुई भय के बिन्दु पर आकर काँपने लगी। इससे सिद्ध है कि वनस्पति में संवेदन है, स्मृति है, पहचान है और दूसरों के मनोभावों को जानने की क्षमता है। —ये सब श्रुतज्ञान के विषय हैं।

सहस्रों वर्ष पूर्व जैनदर्शन ने इस सत्य को प्रमाणित किया था। उसके अनुसार सारा शरीर सीमितरूप में हर इन्द्रिय का कार्य करने में समर्थ है। अंधी कन्यायें उंगलियों से पढ़ लेती हैं। कैसे? विज्ञान अभी तक नहीं जानता। वह नहीं जान सका कि आँख का काम उंगलियाँ कैसे कर लेती हैं; किन्तु जैनधर्म ने इसको समझा था। जैन आचार्यों ने **'संभिन्नस्रोतोपलब्धि'** का वर्णन किया है। यह लब्धि चेतना को इतना विकसित करती है कि समूचा शरीर आँख, कान, नाक, जिह्वा और स्पर्शन का काम करने लगता है। वह शरीर के किसी भी हिस्से से देख सकता है, सुन सकता है, चख सकता है और सूँघ सकता है। पाँचों इन्द्रियों का काम समूचे शरीर से ले सकता है। सारा शरीर हर इन्द्रिय का कार्य करने में समर्थ है। स्पर्शन-इन्द्रियवाले जीव और पंचेन्द्रिय जीव में कोई अन्तर नहीं होता। दोनों में क्रियायें और प्रवृत्तियाँ समान होती हैं। इनमें स्पर्शन-इन्द्रिय की प्रधानता ही कार्यकारी है।

अग्निकायिक जीवों की उत्कृष्ट आयु 3 दिन-रात होती है— 'रत्तिं दिणाणि तिण्णि' *(मूलाचार, 11/59)*। **यह जीव 'वेद' (Sex) की अपेक्षा से नपुंसकलिंगी होता है।** —ऐसा उल्लेख जैन-ग्रन्थों में अनेक स्थानों पर मिलता है। बाह्य रूप से अग्नि के महत्त्व को समूचा विश्व जानता है। घरेलू कार्यों से लेकर युद्ध के भयावह अस्त्र-शस्त्रों तक अग्नि का प्रयोग करते ही हैं। संसार अग्नि के महत्त्व को जानता है।

अग्नि के उपकारक स्वरूप पर भी विद्वानों ने अपने चिंतन प्रस्तुत किये हैं। अग्नि जलती-जलाती है एवं प्रकाशित करती है —ये सब उसके उपकारक स्वरूप हैं।

यहाँ एक प्रश्न है कि मनुष्य दीपक को लेकर जाता है, तो मनुष्य का उपकार दीपक पर हुआ, दीपक का मनुष्य पर नहीं। इसका उत्तर है कि मनुष्य दीपक को अपना स्वार्थ साधने के लिये ले जाता है। अंधकार में वह देख नहीं पाता; किन्तु दीपक के आने पर प्रकाश हो जाता है और वह देखने योग्य हो जाता है। निष्कर्ष है कि दीपक का मनुष्य पर उपकार है।

साधु की कुटिया सूनी है, वह अंधकार-ग्रस्त है। जंगल में होने के कारण कहीं से प्रकाश की क्षीण-रेखा भी नहीं आ पाती। उस कुटिया में दीपक रात-भर जलता है। स्वयं को जला-जला कर मृत्यु की ओर अग्रसर होता है; किन्तु उसको इसकी चिन्ता नहीं है। वह सूनी कुटिया के कोने में रजनी-भर जलकर प्रसन्न होता है। कवि **जयशंकर प्रसाद** ने लिखा है, **"सूनी कुटिया के कोने में रजनी-भर जलते जाना।"**

दीपक रातभर अंधरे से लड़ते हुये प्रात:काल बुझता है, वैसे ही ज्ञानी लोग अज्ञान से जीवनभर लड़ते-लड़ते अंत में मोक्ष को जाते हैं।

मुनि नथमल (आचार्य महाप्रज्ञ) ने 'अग्नि जलती है' नामक अपनी पुस्तक में लिखा है कि "अग्नि इसलिये नहीं जलती कि कोई उस पर पैर रख दे और वह उसे जला डाले।

अग्नि इसलिये जलती है कि लोग उसे देखकर सावधान हो जायें। अग्नि जीवन को सतर्क बनाती है। इसी के लिए उसकी रचना हुई है, जलाने के लिए नहीं।" उनका कथन है कि "अग्नि इसलिए नहीं जलती कि वह सब कुछ निगल जाये; वह जलती है इसलिए कि चैतन्य में से धुआँ निकल जाये। अर्थात् चैतन्य में समाहित मिथ्यात्व का धुआँ छँट जाये, वह सम्यक्त्वी बन जाये।" यह काम वही कर सकता है, जिसमें तेज है। अग्नि में एक तड़प होती है, जिसके कारण वह अपने को अनंत की गोद में उत्सर्ग कर देती है, किन्तु ज्योतिहीन बनकर जीना नहीं चाहती। जीवन वही है, जिसमें एक महान् उद्देश्य के लिये अपने को भी होम देने की तड़प होती है। जीवन वही है, जिसमें ज्ञान की ज्योति सदैव जलती रहती है।

राष्ट्रकवि **मैथिलीशरण गुप्त** ने दीपक की उदारता का वर्णन करते हुए लिखा है कि पतंगा दीपक की लौ पर गिरकर जान देने आता है, तो दीपक पतंगे से हिल-हिल कहता— **"बन्धु ! तू वृथा क्यों दहता है?"** यह दूसरी बात है कि **"पतंगा गिरकर ही रहता है"**; किन्तु दीपक उसे बार-बार इन्कार करता है।

अग्नि के सन्दर्भ में जैन-ग्रन्थों में कई प्रश्न महत्त्वपूर्ण ढंग से उठाये गये हैं। जैसे— "अग्नि और ईंधन का क्या सम्बन्ध है?" अज्ञानीजन कहते हैं कि **"जो अग्नि है, वह ईंधन है और जो ईंधन है, वह अग्नि है। पहले भी ऐसा था और अब भी ऐसा है, तथा आगे भी ऐसा ही होगा।"** अर्थात् वे अग्नि और ईंधन को एक मानते हैं। इस सन्दर्भ में आचार्य अमृतचन्द्र का कथन द्रष्टव्य है— **"नाग्निरिंधनमस्ति, नेंधनमग्निरस्त्यग्निरग्निरस्तींधनमिंधनमस्ति। नाग्ने-रिंधनमस्ति नेंधनास्याग्निरस्त्यग्नेरग्निरस्तींधनस्येंधनमस्ति।"** इसका अर्थ है— अग्नि है, वह ईंधन नहीं है, ईंधन है, वह अग्नि नहीं है। अग्नि अग्नि है, ईंधन ईंधन है। अग्नि का ईंधन नहीं है और ईंधन की अग्नि नहीं है। निष्कर्ष है— परद्रव्य परद्रव्य ही है, वह मुझ-स्वरूप नहीं हो सकता। मैं तो मैं ही हूँ और परद्रव्य नहीं हो सकता हूँ; तथा परद्रव्य परद्रव्य ही है, वह आत्मरूप कभी नहीं हो सकता है। अर्थात् आत्मा आत्मा ही है, शरीर शरीर ही है। दोनों अनादिकाल से जुड़े हैं, किन्तु हैं पृथक्-पृथक्। आत्मा और शरीर के धर्म भिन्न-भिन्न हैं।

अग्नि के अनेकों प्रकार के दृष्टान्त भारतीय परंपरा में प्रचलित रहे हैं। यथा—

'अग्निरिव स्वाश्रयमेव दहन्ति दुर्जना:' —*(नीतिवाक्यामृत, 1/4, पृ० 172)*

अर्थ:— दुष्ट व्यक्ति अग्नि के समान अपने आश्रयदाता को भी जला डालते हैं।

'यह राग आग दहै सदा, तातें समामृत सेइये।'—*(छहढाला)*

जैन-परम्परा में अग्नि के विषय में विविध कथन विविध सन्दर्भों में प्राप्त होते हैं—

'दीवाउ दीवि पज्जलदि बत्ति' —*(महापुराण, 2/20)*

अर्थ:— जैसे दीपक से दीपक में बाती जलती है, इसीप्रकार विद्वान् को आगे ज्ञान

का प्रसार करना चाहिए।

'दीपार्चिषा किं तपनो न पूज्यः' —*(स्वयम्भूस्तोत्र, 12/1)*

अर्थ:— क्या लोग सूर्य की आरती तुच्छ दीपक से नहीं करते?

'दीप-प्रकाशयोरिव सम्यक्त्व-ज्ञानयोः' —*(पुरुषार्थसिद्धि-उपाय, 34)*

दीपक और प्रकाश अथवा प्रकाश और प्रताप (उष्णता) जैसे युगपत् होते हैं, उसीप्रकार सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान युगपत् होते हैं।

अग्नि के लिये अनेकप्रकार के दृष्टांत और उपमायें भी जैनशास्त्रों में मिलती हैं, यथा— **"यथात्र शुद्धिमाधत्ते स्वर्णमत्यन्तमग्निना।**
मनःसिद्धिं तथा ध्यानी योगिसंसर्गवह्निना।।" —*(ज्ञानार्णव, 15/30)*

अर्थ :— जैसे जगत् में सुवर्ण अग्नि के संयोग से अत्यन्त शुद्ध हो जाता है, उसीप्रकार योगीश्वरों की संगतिरूपी अग्नि से ध्यानी मुनिराज अपने मन की शुद्धि को प्राप्त होता है।

एक 'अग्निशिखा' नामक चारणऋद्धि का उल्लेख भी जैनशास्त्रों में मिलता है—

"अविराहिदूण जीवे, अग्गिसिहा-संठिए विचित्ताणं।
जं ताण उवरि गमणं, अग्गिसिहा-चारणा रिद्धी।।"

—*(आचार्य यतिवृषभ, तिलोयपण्णत्ति, 2/150)*

अर्थ:— अग्निशिखाओं में स्थित जीवों की विराधना न करके उन विचित्र अग्नि-शिखाओं पर से गमन करना 'अग्निशिखा-चारणऋद्धि' कहलाती है।

लोकजीवन में अग्नि के महत्त्व को कभी नहीं नकारा जा सकता है। अन्तःरूप से भी अग्नि की भूमिका कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। शरीर के भीतर पाचन का कार्य 'जठराग्नि' करती है। यदि वह मन्द पड़ जाये, तो पाचन में गड़बड़ पैदा हो जाती है। मनुष्य बीमार रहने लगता है। शरीर के स्वास्थ्य के लिये पाचन ठीक रहना आवश्यक है। वह मूलाधार है। 'जठराग्नि' तीव्र होनी ही चाहिए।

तीर्थंकर को अनन्त बल-वीर्य का धनी कहा जाता है। यह बल और वीर्य सिवाय अग्नि के और कुछ नहीं होता। जिसमें जितनी अधिक आग होती है, वह उतना ही अधिक बल-वीर्य का मालिक बन पाता है। वह व्यक्ति तेजवान् होता है। तेजस्वी व्यक्तित्व यदि एक ओर आसमुद्रान्त साम्राज्यों की स्थापना में सक्षम हो पाता है, तो दूसरी ओर मोक्षलक्ष्मी का वरण भी वही कर पाता है। सब कर्मों के छुटकारे को ही मोक्ष कहते हैं और समाधितेज से कर्मों से छुटकारा मिलता है। आचार्य समन्तभद्र ने 'स्वयम्भू स्तोत्र' में लिखा है— **"स्वदोषमूलं स्वसमाधितेजसा, निनाय यो निर्दयभस्मसात्क्रियाम्।**
जगाद तत्त्वं जगतेऽर्थिनेऽञ्जसा, बभूव च ब्रह्म-पदामृतेश्वरः।। 4।।"

जो अपनी भीतर की विकृतियों को समाधितेज से निर्दयतापूर्वक भस्म कर देता है,

वही ब्रह्म पद का अधिकारी होता है और वही अपने अमृत-प्रवचनों से दुःखों से प्रपीड़ित जग को मूल तत्त्व से अवगत करा पाता है।

सन्दर्भ-सूची :—

1. 'एकं सत्' —(*ऋग्वेद, 1/164/46*)
   सत् का परमार्थ लक्षण निश्चय से ही अर्थक्रियाकारित्व है।
2. 'तथैवाचक्षुदर्शनावरणीयकर्मक्षयोपशमेन स्पर्शन।' —(*नियमसार टीका, गाथा 14*)
3. 'असंख्येयं लोकमात्र-संयम-परिणामेष:।' —(*आचार्य वीरसेन, धवला, 1/1/120*)
4. 'आऊ' इति पुल्लिंगांत: प्राकृतलक्षणवशात्। —(*पण्णवणा, 367 मलयगिरी*)
5. (1) पृथ्वीकायिक 7 लाख, (2) जलकायिक 7 लाख, (3) अग्निकायिक 7 लाख, (4) वायुकायिक 7 लाख, (5) वनस्पतिकायिक 10 लाख। ❖❖

अग्नि-विषयक कविता

अस्त हो रहा सूर्य सोचता
मेरा काम करेगा कौन?
अंधकार के महा-उदधि में ज्योति-प्रकाश भरेगा कौन?
सभी निरुत्तर थे, आतुर थे
सभी दीखते थे निरुपाय,
तभी एक माटी का दीपक बोला बनकर विश्व-सहाय
तुम प्रकाश के पुंज और मैं नन्हा-सा दीपक श्रीमान्
जब तक अन्तिम सांस, करूँगा मैं प्रकाश का ही गुणगान।

मूल बांग्ला रचयिता — गुरुदेव रवीन्द्र नाथ टैगोर
हिन्दी अनुवाद — डॉ० शेरजंग गर्ग ※※

श्रुतपंचमी और ब्राह्मी लिपि

"शुभे शिलादावुत्कीर्य श्रुतस्कन्धमविन्यसेत्।
ब्राह्मीन्यास-विधानेन श्रुतस्कन्धमिह स्तुयात्।।
सुलेखकेन संलिख्य परमागम-पुस्तकम्।
ब्राह्मीं वा श्रुतपंचम्यां सुलग्ने वा प्रतिष्ठयेत्।।

—(*पं० शिवाशाधर, प्रतिष्ठापाठ, 6/33-34*)

अर्थ :— शुभमुहूर्त में शिलादि में उत्कीर्ण करके श्रुतस्कन्ध की भी स्थापना करें, फिर ब्राह्मी लिपि के न्यास-विधान से श्रुतस्कन्ध की स्तुति करें। सुलेखपूर्वक परमागम पुस्तक अथवा ब्राह्मी-लिपि में लिखकर श्रुतपंचमी (ज्येष्ठशुक्ल पंचमी) के दिन (शुभमुहूर्त) में उसकी स्थापना करें। ※※

भारतीय दर्शन एवं जैनदर्शन

—*डॉ० मंगलदेव शास्त्री*

भारतीय दर्शनशास्त्र का इतिहास अत्यन्त प्राचीन है। भिन्न-भिन्न समय में अधिकारभेद से अनेक दर्शनों का उत्थान इस देश में हुआ। दृश्य जगत् के सम्पर्क से विभिन्न परिस्थितियों के कारण मनुष्य के हृदय में जो अनेक प्रकार की जिज्ञासा उत्पन्न होती हैं, उनका समाधान करना ही दर्शन का मुख्य लक्ष्य होता है। जिज्ञासा-भेद से दर्शनों में भेद स्वाभाविक है। भारतीय दर्शनों में जैनदर्शन का भी एक प्रधान स्थान है। इसका हमारी समझ में एक मुख्य वैशिष्ट्य यह है कि इसके आचार्यों ने प्रचलित परम्परागत विचार और रूढ़ियों से अपने को पृथक् करके स्वतन्त्र-दृष्टि से दार्शनिक- प्रमेयों के विश्लेषण की चेष्टा की है। हम यहाँ विश्लेषण शब्द का प्रयोग जान-बूझकर कर रहे हैं। वस्तुस्थिति में एक दार्शनिक का कार्य, जिसप्रकार एक वैयाकरण शब्द का व्याकरण अर्थात् विश्लेषण, न कि निर्माण, करता है, इसीप्रकार पदार्थों के सम्बन्ध से उत्पन्न होनेवाले हमारे विचारों और उनके सम्बन्धों के रहस्य का उद्घाटन करना होता है। 'पदार्थों की सत्ता हमारे विचारों से निरपेक्ष, स्वत:सिद्ध है'— इस सिद्धान्त को प्राय: लोग भूल जाते हैं। हम समझते हैं कि जैनदर्शन का अनेकान्तवाद, जिसको कि उसकी मूलभित्ति कहा जा सकता है, उपर्युक्त मूलसिद्धान्त को लेकर ही प्रवृत्त हुआ है।

'अनेकान्तवाद' का मौलिक अभिप्राय यही हो सकता है कि तत्त्व के विषय में आग्रह न होते हुए भी उसके विषय में तत्तदवस्था भेद के कारण दृष्टिभेद संभव है। इस सिद्धान्त की मौलिकता में किसको सन्देह हो सकता है? क्या हम

"श्रुतयो विभिन्ना: स्मृतयो विभिन्ना नैको मुनिर्यस्य मतं न भिन्नम्।" —*(महाभारत)*

"यस्यामतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद स:।
अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानताम्।।" —*(केनोपनिषत्, 2/3)*

इत्यादि वचनों को मूल में अनेकान्तवाद का ही प्रतिपादक नहीं कह सकते? दर्शन शब्द ही स्वत: दृष्टिभेद के अर्थ को प्रकट करता है। इस अभिप्राय से जैनाचार्यों ने अनेकान्तवाद के द्वारा दार्शनिक आधार पर विभिन्न दर्शनों में विरोध भावना को हटाकर परस्पर समन्वय स्थापित करने का एक सत्प्रयत्न किया है।

अनेक अवस्थाओं से बद्ध, विभिन्न दृष्टिकोणों से पदार्थों को देखने का अभ्यासी, मनुष्य किसी पदार्थ के अखण्ड सकल-स्वरूप को कैसे जान सकता है? उन अखण्ड मूलस्वरूप को हम सच्चे अर्थ में **"गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम्"** कह सकते हैं। **"पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि"** (यजुर्वेद, पुरुषसूक्त) इस वैदिकश्रुतिका भी वास्तविक तात्पर्य यही है। इसमें सन्देह नहीं कि जैनदर्शन में प्रतिपादित अनेकान्तवाद के इस मौलिक अभिप्राय को समझने से दार्शनिक जगत् में परस्पर विरोध तथा कलह की भावनाओं के नाश से परस्पर सौमनस्य और शान्ति का साम्राज्य स्थापित हो सकता है।

जैनधर्म की भारतीय संस्कृति को बड़ी भारी देन अहिंसावाद है। जो कि वास्तव में दार्शनिक-भित्ति पर स्थापित अनेकान्तवाद का ही नैतिकशास्त्र की दृष्टि से अनुवाद कहा जा सकता है। धार्मिक दृष्टि से यदि अहिंसावाद को ही जैनधर्म में सर्वप्रथम स्थान देना आवश्यक हो तो हम अनेकान्तवाद को ही उसका दार्शनिक दृष्टि से अनुवाद कह सकते हैं। अहिंसा शब्द का अर्थ भी मानवीय सभ्यता के उत्कर्षानुत्कर्ष की दृष्टि से भिन्न-भिन्न किया जा सकता है। एक साधारण मनुष्य के स्थूल विचारों की दृष्टि से हिंसा किसी की जान लेने में ही हो सकती है। किसी के भावों को आघात पहुँचाने को वह हिंसा नहीं कहेगा। परन्तु एक सभ्य मनुष्य तो विरुद्ध विचारों की असहिष्णुता को भी हिंसा ही कहेगा। उनका सिद्धान्त तो यही होता है कि—

> **"अभ्यावहति कल्याणं विविधं वाक् सुभाषिता।**
> **सैव दुर्भाषिता राजन् अनर्थायोपपद्यते।।**
> **वाक्साय का वदनान्निष्पतन्ति यैराहतः शोचति रात्र्यहानि।**
> **परस्य नामर्मसु ते पतन्ति तान् पण्डितो नावसृजेत् परेभ्यः।।"**
>
> —*(विदुनीति, 2/77, 80)*

सभ्य जगत् का आदर्श विचारस्वातन्त्र्य है। इस आदर्श की रक्षा अहिंसावाद (हिंसा-असहिष्णुता) के द्वारा ही हो सकती है। विचारों की संकीर्णता या असहिष्णुता ईर्षा-द्वेष की जननी है। इस असहिष्णुता को हम किसी अन्धकार से कम नहीं समझते। आज हमारे देश में जो अशान्ति है उसका एक मुख्य कारण यही विचारों की संकीर्णता है। प्राचीन संस्कृत साहित्य में पाया जानेवाला **'आनृशंस्य'** शब्द भी इसी अहिंसावाद का द्योतक है। इसप्रकार के अहिंसावाद की आवश्यकता सारे संसार को है। जैनधर्म के द्वारा इसमें बहुत कुछ सहायता मिल सकती है। उपर्युक्त दृष्टि से जैनदर्शन भारतीय दर्शनों में अपना एक विशिष्ट स्थान रखता है।

चिरकाल से ही हमारी यह हार्दिक इच्छा रही है कि हमारे देश में दार्शनिक अध्ययन साम्प्रदायिक संकीर्णता से निकलकर विशुद्ध दार्शनिक दृष्टि से किया जाये। उसमें दार्शनिक समस्याओं को सामने रखकर तुलनात्मक तथा ऐतिहासिक दृष्टि का यथासंभव अधिकाधिक उपयोग हो। इसी पद्धति के अवलम्बन से भारतीय दर्शन का क्रमिक विकास समझा जा सकता है, और दार्शनिक अध्ययन में एक प्रकार की सजीवता आ सकती है।

दिगम्बर-परम्परा के मनीषी और वर्तमान स्थिति

—पं० सुखलाल संघवी

दिगम्बर जैन-परम्परा में विगत दो शताब्दियों में अनेकों ऐसे स्वनामधन्य मनीषी साधक हुए हैं, जिनकी विद्वत्ता, गुणगरिमा तथा अनेकविध साहित्यिक-सामाजिक योगदान ने युगान्तरकारी इतिहास का निर्माण किया है। उनका यह अवदान जाति-सम्प्रदाय-क्षेत्र-काल आदि की संकीर्णताओं से ऊपर था, अत: सभी ने उसे स्वीकार किया और उसकी मुक्तकंठ से सराहना की है। आज की हमारी विद्वत्पीढ़ी एवं उसके उत्साहवर्धकों के लिए यश:काय मनीषी स्व० प्रज्ञाचक्षु पं० सुखलाल जी संघवी की वैदुष्यपूर्ण, तथापरक एवं निर्भीक मार्गदर्शन देनेवाली लेखनी से प्रसूत यह आलेख गंभीरतापूर्वक पठनीय, मननीय तो है ही; पूर्वाग्रहों एवं वैचारिक संकीर्णताओं से ऊपर उठकर स्वीकारने एवं अपनाने योग्य भी है। यदि समय रहते हम नहीं चेते, तो हमारे पूर्वज विद्वानों ने वैदुष्य की जो यशस्वी परम्परा स्थापित की थी, उसकी प्राय: इतिश्री हम स्वयं देख लेंगे। —सम्पादक

भारतवर्ष को दर्शनों की जन्मस्थली और क्रीडाभूमि माना जाता है। यहाँ का अपढ़जन भी ब्रह्मज्ञान, मोक्ष तथा अनेकान्त जैसे शब्दों को पद-पद पर प्रयुक्त करता है, फिर भी भारत का दर्शनिक पौरुषशून्य क्यों हो गया है? इसका विचार करना जरूरी है। हम देखते हैं कि दार्शनिक प्रदेश में कुछ ऐसे दोष दाखिल हो गए हैं जिनकी ओर चिन्तकों का ध्यान अवश्य जाना चाहिए। पहली बात दर्शनों के पठन-सम्बन्धी उद्देश्य की है। जिसे दूसरा कोई क्षेत्र न मिले और बुद्धि प्रधान आजीविका करनी हो तो बहुधा वह दर्शनों की ओर झुकता है। मानों दार्शनिक अभ्यास का उद्देश्य या तो प्रधानतया आजीविका हो गया है या वादविजय एवं बुद्धिविलास। इसका फल हम सर्वत्र एक ही देखते हैं कि या तो दार्शनिक गुलाग बन जाता है या सुखशील। इस तरह जहाँ दर्शन शाश्वत अमरता की गाथा तथा अनिवार्य प्रतिक्षण-मृत्यु की गाथा सिखाकर अभ्य का संकेत करता है वहाँ उसके अभ्यासी हम निरे भीरु बन गए हैं। जहाँ दर्शन हमें सत्य-असत्य का विवेक सिखाता है वहाँ हम उलटे असत्य को समझने में भी असमर्थ हो रहे हैं, तथा अगर उसे समझ भी लिया, तो उसका परिहार करने के विचार से ही काँप उठते हैं। दर्शन जहाँ दिन-रात आत्मैक्य या आत्मौपम्य सिखाता है वहाँ हम भेद-प्रभेदों को और भी विशेषरूप

से पुष्ट करने में ही लग जाते हैं। यह सब विपरीत परिणाम देखा जाता है। इसका कारण एक ही है, और वह है दर्शन के अध्ययन के उद्देश्य को ठीक-ठीक न समझना। दर्शन पढ़ने का अधिकारी वही हो सकता है और उसे ही पढ़ना चाहिए कि जो सत्य-असत्य के विवेक का सामर्थ्य प्राप्त करना चाहता हो और जो सत्य के स्वीकार की हिम्मत की अपेक्षा असत्य का परिहार करने की हिम्मत या पौरुष सर्वप्रथम और सर्वाधिक प्रमाण में प्रकट करना चाहता हो। संक्षेप में दर्शन के अध्ययन का एक मात्र उद्देश्य है जीवन की बाहरी और भीतरी शुद्धि। इस उद्देश्य को सामने रखकर ही उस का पठन-पाठन जारी रहे तभी वह मानवता का पोषक बन सकता है।

दूसरी बात है दार्शनिक प्रदेश में नये संशोधनों की। अभी तक यही देखा जाता है कि प्रत्येक संप्रदाय में जो मान्यताएँ और जो कल्पनायें रूढ़ हो गई हैं, उन्हीं को संप्रदाय में सर्वज्ञप्रणीत माना जाता है। ओर आवश्यक नये विचार प्रकाश का उनमें प्रवेश ही नहीं होने पाता। पूर्व-पूर्व पुरखों के द्वारा किए गए और उत्तराधिकार दिए गए चिन्तनों तथा आरणों का प्रवाह ही संप्रदाय है। हर एक संप्रदाय का माननेवाला अपने मन्तव्यों के समर्थन में ऐतिहासिक तथा वैज्ञानिक दृष्टि की प्रतिष्ठा का उपयोग तो करना चाहता है, पर इस दृष्टि का उपयोग वह वहाँ तक ही करता है जहाँ उसे कुछ भी परिवर्तन न करना पड़े। परिवर्तन और संशोधन के नाम से या तो सम्प्रदाय घबड़ाता है या अपने में पहले से ही सब कुछ होने की डीग हाँकता है। इसलिए भारत का दार्शनिक पीछे पड़ गया है। जहाँ-जहाँ वैज्ञानिक प्रमेयों के द्वारा या वैज्ञानिक पद्धति के द्वारा दार्शनिक विषयों में संशोधन करने की गुंजाइश हो वहाँ सर्वत्र उसका उपयोग अगर न किया जायेगा तो यह सनातन दार्शनिक विद्या केवल पुराणों की ही वस्तु रह जायेगी। अत एव दार्शनिक क्षेत्र में संशोधन करने की प्रवृत्ति की ओर भी झुकाव होना जरूरी है।

दिगम्बर-परम्परा के साथ मेरा तीस वर्ष पहले अध्ययन के समय से ही, सम्बन्ध शुरू हुआ, जो बाह्य-आभ्यन्तर दोनों दृष्टि से उत्तरोत्तर विस्तृत एवं घनिष्ट होता गया है। इतने लंबे परिचय में साहित्यिक तथा ऐतिहासिक दृष्टि से दिगम्बर परम्परा के सम्बन्ध में आदर एवं अति तटस्थता के साथ जहाँ तक हो सका मैंने कुछ अवलोकन एवं चिंतन किया है। मुझको दिगम्बरी परम्परा की मध्यकालीन तथा उत्तरकालीन साहित्यिक प्रवृत्ति में एक विरोध सा नज़र आया। नमस्करणीय स्वामी समंतभद्र से लेकर वादिराज तक ही साहित्य प्रवृत्ति देखिये और इसके बाद की साहित्यिक प्रवृत्ति देखिये। दोनों का मिलान करने से अनेक विचार आते हैं। समंतभद्र, अकलंक आदि विद्वद्रूप आचार्य चाहे वनवासी रहे हों, या नगरवासी; फिर भी उन सबों के साहित्य को देखकर एक बात निर्विवाद रूप से माननी पड़ती है कि उन सबों की साहित्यिक मनोवृत्ति बहुत ही उदार एवं संग्राहिणी रही। ऐसा न होता तो वे बौद्ध और ब्राह्मण परम्परा की सब दार्शनिक

शाखाओं के सुलभ दुर्लभ साहित्य का न तो अध्ययन ही करते और न उसके तत्त्वों पर अनुकूल प्रतिकूल समालोचना-योग्य गंभीर चिंतन करके अपना साहित्य समृद्धतर बना पाते। यह कल्पना करना निराधार नहीं कि उन समर्थ आचार्यों ने अपने त्याग व दिगम्बरत्व को कायम रखने की चेष्टा करते हुए भी अपने आस-पास ऐसे पुस्तक संग्रह किये, कराये कि जिनमें अपने सम्प्रदाय के समग्र साहित्य के अलावा बौद्ध और ब्राह्मण परंपरा के महत्त्वपूर्ण छोटे-बड़े सभी ग्रन्थों का संचय करने का भरसक प्रयत्न हुआ। वे ऐसे संचय मात्र से भी संतुष्ट न रहते थे, पर उनके अध्ययन-अध्यापनकार्य को अपना जीवनक्रम बनाये हुए थे। इसके बिना उनके उपलभ्य ग्रन्थों में देखा जानेवाला विचार-वैशद्य व दार्शनिक पृथक्करण संभव नहीं हो सकता। वे उस विशाल-राशि तत्कालीन भारतीय-साहित्य के चिंतन, मनन रूप दोहन में से नवनीत जैसी अपनी कृतियों को बिना बनाये भी संतुष्ट न होते थे। यह स्थिति मध्यकाल की रही। इसके बाद के समय में हम दूसरी ही मनोवृत्ति पाते हैं। करीब बारहवीं शताब्दी से लेकर 20वीं शताब्दी तक के दिगम्बरीय साहित्य की प्रवृत्ति देखने से जान पड़ता है कि इस युग में वह मनोवृत्ति बदल गई। अगर ऐसा न होता तो कोई कारण न था कि बारहवीं शताब्दी से लेकर अब तक जहाँ न्याय, वेदान्त, मीमांसा, अलंकार, व्याकरण आदि विषयक साहित्य का भारतवर्ष में इतना अधिक, इतना व्यापक और इतना सूक्ष्म विचार व विकास हुआ, वहाँ दिगम्बर-परम्परा इससे बिलकुल अछूत-सी रहती। श्रीहर्ष, गंगेश, पक्षधर, मधुसूदन, अप्पयदीक्षित, जगन्नाथ आदि जैसे नवयुग प्रस्थापक ब्राह्मण विद्वानों के साहित्य से भरे हुए इस युग में दिगम्बर-साहित्य का उससे बिलकुल अछूत रहना अपने पूर्वाचार्यों की मनोवृत्ति के विरुद्ध मनोवृत्ति का सुबूत है। अगर वादिराज के बाद भी दिगम्बर-परम्परा की साहित्यिक मनोवृत्ति पूर्ववत् रहती, तो उसका साहित्य कुछ और ही होता। कारण कुछ भी हो, पर इसमें तनिक भी संदेह नहीं कि पिछले भट्टारकों और पंडितों की मनोवृत्ति ही बदल गई और उसका प्रभाव सारी परंपरा पर पड़ा, जो अब तक स्पष्ट देखा जाता है और जिनके चिह्न उपलभ्य प्रायः सभी भाण्डारों, वर्तमान पाठशालाओं की अध्ययन-अध्यापन-प्रणाली और पंडित-मंडली की विचार व कार्यशैली में देखे जाते हैं।

अभी तक मेरे देखने-सुनने में ऐसा एक भी पुराना दिगम्बर-भण्डार या आधुनिक पुस्तकालय नहीं आया जिसमें बौद्ध, ब्राह्मण और श्वेताम्बर परम्परा का समग्र साहित्य या अधिक महत्त्व का मुख्य साहित्य संगृहीत हो। मैंने दिगम्बर-परम्परा की एक भी ऐसी संस्था नहीं देखी या सुनी कि जिसमें समग्र दर्शनों का आमूल अध्ययन-चिंतन होता हो। या उसके प्रकाशित किये हुए बहुमूल्य प्राचीन ग्रन्थों का संस्करण या अनुवाद ऐसा कोई नहीं देखा, जिसमें यह विदित हो कि उसके सम्पादकों या अनुवादकों ने उतनी विशालता व तटस्थता से उन मूलग्रन्थों के लेखकों की भाँति, नहीं तो उनके शतांश या सहस्रांश भी

श्रम किया हो।

एक तरफ से परम्परा में पाई जानेवाली उदात्त शास्त्रभक्ति, आर्थिक सहूलियत और बुद्धिशाली पंडितों की बड़ी तादाद के साथ जब आधुनिक युग के सुभीते का विचार करता हूँ, तथा दूसरी भारतवर्षीय परंपराओं की साहित्यिक उपासना को देखता हूँ और दूसरी तरफ दिगम्बरीय साहित्यक्षेत्र का विचार करता हूँ, तब कम से कम मुझको तो कोई संदेह ही नहीं रहता कि यह सब कुछ बदली हुई संकुचित या एकदेशीय मनोवृत्ति का ही परिणाम है।

मेरा यह भी चिरकाल से मनोरथ रहा है जितनी कि हो सके, उतनी त्वरा से दिगम्बर परम्परा की यह मनोवृत्ति बदल जानी चाहिए। इसके बिना वह न तो अपना ऐतिहासिक व साहित्यिक पुराना अनुपम स्थान संभाल सकेगी और न वर्तमान युग में सबके साथ बराबरी का स्थान पा सकेगी। यह भी मेरा विश्वास है कि अगर यह मनोवृत्ति बदल जाय, तो उस मध्यकालीन थोड़े, पर असाधारण महत्त्व के, ऐसे ग्रन्थ उसे विरासतलभ्य हैं, जिनके बल पर और जिनकी भूमिका के ऊपर उत्तरकालीन और वर्तमानयुगीन सारा मानसिक विकास इस वक्त भी बड़ी खूबी से समन्वित व संगृहीत किया जा सकता है।

इसी विश्वास ने मुझ को दिगम्बरीय साहित्य के उपादेय उत्कर्ष के वास्ते कर्तव्यरूप से मुख्यतया तीन बातों की ओर विचार करने को बाधित किया है।

(1) समंतभद्र, अकलंक, विद्यानंद आदि के ग्रन्थ इस ढंग से प्रकाशित किये जायें, जिससे उन्हें पढ़नेवाले व्यापक दृष्टि पा सकें और जिनका अवलोकन तथा संग्रह दूसरी परम्परा के विद्वानों के वास्ते अनिवार्य-सा हो जाये।

(2) आप्तमीमांसा, युक्त्यनुशासन, अष्टशती, न्यायविनिश्चय आदि ग्रन्थों के अनुवाद ऐसी मौलिकता के साथ तुलनात्मक व ऐतिहासिक पद्धति से किये जायें, जिससे यह विदित हो कि उन ग्रन्थकारों ने अपने समय तक की कितनी विद्याओं का परिशीलन किया था और किन-किन उपादानों के आधार पर उन्होंने अपनी कृतियाँ रचीं थीं तथा उनकी कृतियों में सन्निविष्ट विचार-परंपराओं का आज तक कितना और किस तरह विकास हुआ है।

(3) उक्त दोनों बातें की पूर्ति का एक मात्र साधन जो सर्वसंग्राही पुस्तकालयों का निर्माण, प्राचीन भाण्डारों की पूर्ण व व्यवस्थित खोज तथा आधुनिक पठन प्रणाली में आमूल परिवर्तन है, वह जल्दी से जल्दी करना।

अंत में दिगम्बर परम्परा के सभी निष्णात और उदार पंडितों से मेरा नम्र निवेदन है कि वे अब विशिष्ट शास्त्रीय अध्यवसाय में लग कर सर्व संग्राह्य हिंदी अनुवादों की बड़ी भारी कमी को जल्दी से जल्दी दूर करने में लग जायें और प्रस्तुत कुमुदचन्द्र के संस्करण को भी भुला देने वाले अन्य महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों का संस्करण तैयार करें। ❖❖

प्राकृत काव्य-शैली का दूरगामी प्रभाव

—कलानाथ शास्त्री

प्राकृतभाषा के साहित्य की आज के युग में चर्चा प्राय: गिने-चुने व्यक्तियों तक सीमित रह गयी है। तथा कुछ विद्वानों के पूर्वाग्रही प्रचार से भी भारतीय भाषाओं एवं साहित्य की प्राकृत-उपजीव्यता का बोध नष्टप्राय: हो गया है। ऐसी स्थिति में एक वरिष्ठ संस्कृत विद्वान् के द्वारा इतर साहित्य में प्राकृत-साहित्य के प्रभाव को दर्शानेवाला यह आलेख अवश्य ही पठनीय, मननीय है तथा इसका समुचित प्रचार-प्रसार भी अपेक्षित है। **—सम्पादक**

भारतीय वाङ्मय ने वेद की 'छान्दस' भाषा, क्लासिक संस्कृत की अभिजात भाषा, प्राकृत, पाली और अपभ्रंश की लोकभाषाओं तथा आधुनिक भारतीय भाषाओं के साहित्य तक अभिव्यक्ति शैलियों, उक्त भंगिमाओं और विदग्ध-वचनों (जिन्हें 'अन्दाज़े-बयाँ' कहा जा सकता है) का इतना वैविध्य देखा है कि उसका विश्लेषण तथा तुलनात्मक अध्ययन सरल कार्य नहीं है। कुछ अभिव्यक्ति विधायें ऐसी हैं, जो वेद में ब़हुतायत से पाई जाती हैं, वैदिक शैली की पहचान हैं; किन्तु क्लासिकी संस्कृत में परिगृहीत नहीं हुईं जैसे— **किंस्विद्वनं क उ स वृक्ष आस या कथा जाते कवय: को विवेद** की प्रश्नोत्तर-शैली या **पश्य देवस्य काव्यं न ममार न जीर्यति** में विस्मय-योजना जबकि हमारी लोकभाषाओं और आधुनिक साहित्य में खूब फबती रही हैं, लगता है वे वेद से प्राकृतों में होती हुई आधुनिक लोकभाषाओं तक आई हैं। क्लासिकी संस्कृत के सांगरूपक और श्लेष जैसे अलंकार (सभंग और अभंग) उसके अपने हैं, जो अन्य भाषाओं में उतर ही नहीं सकते —**पृथुकार्तस्वरपात्रं भूषितनि:शेष-परिजनं देव** में भू+उषित, पृथु+कार्तस्वर और भूषित तथा पृथुक+आर्तस्वर आदि व्युत्पादित पदगत सभंग-श्लेष केवल संस्कृत का ही वर्ग-चरित्र है; अन्य भाषाओं में यह क्षमता नहीं है। इसके विपरीत प्राकृत और अपभ्रंश आदि की कुछ ललित अभिव्यक्तियाँ, जो हृदय की सहज भाव-प्रवणता से उपजी तथा माटी की सौंधी गंध लिए हुए हैं, अपनी अलग पहचान रखती हैं, जो अभिजात संस्कृत में रच-बसकर नहीं फैल पाईं, या तो अनुवाद या उद्धरणमात्र तक सीमित रह गईं या कुछ कवियों और काव्यों में ही रच-बस पाईं ऐसा लगता है (हो सकता है उनका सूत्रपात पाली की गाथाओं से ही हो गया हो)।

यही कारण है कि उनके अभिव्यक्ति-सौन्दर्य या अन्दाज़े-बयाँ से चमत्कृत होकर आनन्दवर्धन से लेकर विश्वनाथ तक सभी काव्यशास्त्रियों ने प्राकृत-गाथाओं को रस, भाव, ध्वनि या अलंकार के उदाहरण के रूप में ख़ूब उद्धृत किया है। बहुत ही उक्तियाँ ऐसी हैं, जिन्हें देखकर लगता है कि उनकी परम्परा अभिजात संस्कृत में नहीं मिल सकी; अत: प्राकृत से ही उन्हें उद्धृत करना अधिक उचित जान पड़ा। इनका विश्लेषण या वर्गीकरण करें, तो कभी-कभी ये दो वर्ग स्पष्ट लगने लगते हैं कि कुछ अभिव्यक्तियाँ ऐसी हैं, जो मूलत: प्राकृत-गाथाओं की देन हैं; किन्तु संस्कृत काव्यों में परिगृहीत होकर आम हो गईं, कुछ ऐसी हैं, जो प्राकृत और अपभ्रंश की सीमा तक ही रहीं, उनकी भाव-प्रवणता या तरलता जिसे अंगेजी में 'लिरिसिज्म' भी कहा जा सकता है, संस्कृत जैसी अभिजात भाषा में उसी भणितिभंगी के साथ नहीं उतारी गईं। उसमें आभिजात्य अथवा गम्भीरता आ गई। जिसप्रकार आज गम्भीर, अभिजात वर्गों में भी कभी-कभी भाव-प्रवणता या हल्की-फुल्की चुटीली गुदगुदानेवाली अभिव्यक्ति के लिहाज से लोकभाषा की या उर्दू की काव्योक्ति उद्धृतकर वक्ता अपने भाषण को सरल, चटपटा या प्रभावी बनाने का प्रयत्न करता है; उसीप्रकार उस समय प्राकृत की काव्योक्तियों को उद्धृत करने की परम्परा रही होगी— यह स्पष्ट प्रतीत होता है। जैसे आज हिन्दी, अवधी, उर्दू लोकप्रचलित और सुबोध्य है; उसीप्रकार प्राकृत, विशेषत: साहित्यिक प्राकृत सभी समाजों में सहजबोध्य रही होंगी। उनकी काव्योक्तियों की भणितिभंगी का अपना अलग स्वाद रहा होगा। वैसी उक्तियाँ संस्कृत में भी हैं अवश्य, किन्तु उनकी परम्परा संस्कृत जैसी अभिजात भाषा में उतर नहीं पाई; जबकि उर्दू जैसी भाषाओं में आज भी वैसा अन्दाज़े-बयाँ देखा जा सकता है। इनमें से अधिकांश गाथायें गाथा-सप्तशती में, गाथाकोश में या वज्जालग्गं में संगृहीत हो गईं, कुछ संकलित नहीं हो पाईं, विभिन्न शास्त्रीय-ग्रन्थों में उद्धृत ही पाई जाती हैं। गाथासप्तशती पर इतना गहन अध्ययन हो चुका है कि इसकी गाथाओं का प्रभाव गोवर्धनाचार्य की आर्यासप्तशती पर, जयवल्लभ के वज्जालग्गं पर, संस्कृत के काव्यों पर, बिहारी की सतसई पर तथा भारतीय भाषाओं के अन्य काव्यों पर किस प्रकार परिलक्षित होता है? —इसका व्यापक विवेचन भट्ट मथुरानाथ शास्त्री ने संस्कृत गाथासप्तशती की भूमिका में, डॉ० परमानन्द शास्त्री ने गाथासप्तशती की भूमिका में, डॉ० हरिराम आचार्य ने हाल पर अपने शोध-ग्रन्थ में तथा गाथा-सप्तशती के हिन्दी-काव्यानुवाद की भूमिका में, पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र तथा प्रो० पद्मसिंह शर्मा ने 'बिहारी-सतसई' के विवेचन के प्रसंग में तथा आचार्य जोगलेकर जैसे हिन्दीतरभाषी विवेचकों ने अपने-अपने ग्रन्थों में सोदाहरण कर दिया है, जिसे दोहराने की बजाय उन पक्षों पर प्रकाश डालना अधिक उचित होगा, जिन पर अधिक विवेचन नहीं हो पाया है। इसीलिए हमने कुछ ऐसी भणितिभंगियों या अभिव्यक्ति-शैलियों का नमूने के रूप में संकेत देना ही पर्याप्त समझा

है, जिन्हें प्रतिनिधि के रूप में लिया जा सकता है। जिसप्रकार लोककथाओं के अध्ययन के लिए उनके मोटीफ (Motifs) या कथातन्तु विश्लेषित कर उन्हें विभिन्न भाषाओं में तलाशा जा सकता है, उसीप्रकार ललित साहित्य की भणितिभंगी की एक विधा (पैटर्न) को विभिन्न साहित्यों में आसानी से पहचाना जा सकता है।

एक उदाहरण से बात समझ में आ जायेगी। वियोग में या प्रेम की अप्रत्याशित समाप्ति पर पुरानी बातों को याद कर, 'वे दिन कहाँ गये, वे मधुरोक्तियाँ, वे वादे, वे कसमें क्या हुईं' इत्यादि अभिव्यक्ति-शैली जो आज हिन्दी, उर्दू आदि में खूब सुनने को मिलती है, संस्कृत के अभिजात-साहित्य में उतनी नहीं मिलती। यह भाव-तरल अन्दाज़े-बयाँ प्राकृत में सुप्रचलित है, जिसका एक उदाहरण है यह गाथा—

ताणं गुणग्गहणाणं ताणुक्कठाणं तस्स पेंम्मस्स।
ताणं भणिआअं सुंदर एरिसिअं जाअमवसाणं।।

—(काव्यप्रकाश, चतुर्थ उल्लास 102)

तेषां गुणग्रहणानां तासामुत्कण्ठानां तस्य प्रेम्णः।
तेषां भणितानां सुन्दर ! ईदृशं जातमवसानम्।।

यह उसकी संस्कृत-छाया है। मम्मट ने अलग से संस्कृत-छाया लिखना आवश्यक नहीं समझा; क्योंकि उस समय प्राकृत सुप्रचलित और सुबोध्य रही होगी, जैसा हमने पहले संकेत दिया है।

इसमें जो रस है, वह शैली का है। इसने मम्मट जैसे काव्यशास्त्रीय का दिल जीत लिया; किन्तु किस रस या अलंकार का उदाहरण इसे बतायें, यह चिन्तन उन्हें झकझोर रहा होगा। उन्होंने इसे एकवचन, बहुववचन आदि का साथ-साथ प्रयोग करके रस पैदा किया जा सकता है, इसके उदाहरण के रूप में उद्धृत किया है। और वे करते भी क्या? यह गाथा सप्तशती में संकलित नहीं है, किन्तु एक वाक्-प्रस्तुति का प्रतिनिधित्व करती है। यह परम्परा अभिजात-संस्कृत में गहरी नहीं पैठ पाई है, प्राकृत की अपनी है; यद्यपि इसका आधार लेकर एकाध संस्कृत कवि ने ठीक यही शैली ऐसे श्लोकों में अपनाई, जैसे—

तानि स्पर्शसुखानि ते च तरलस्निग्धा दृशोर्विभ्रमा-
स्तद् वक्त्त्राम्बुजसौरभं स च सुखस्यन्दी गिरां वक्रिमा।
सा बिम्बाधरमाधुरीति विषयासंगेपि मन्मानसं
तस्यां लग्नसमाधि हनत विरहव्याधिः कथं वर्तते।।

इसमें यद्यपि वह तरलता नहीं है, जो प्राकृत में है। वह तरलता भट्ट मथुरानाथ शास्त्री के इस संस्कृत घनाक्षरी छन्द में देखी जा सकती है, जो इस गाथा की परम्परा का एक सदस्य लगता है—

ते केचिद्विलासा: समुदूढघन-स्नेहरसा: ते वै परिहासा ये प्रमोदमवहन्नहो।
तत्तत्समयेषु सुहृद्गोष्ठीसुखसंभृतानि तानि रमितानि यानि चिन्तामहरन्नहो।।
मंजुनाथ-निध्यानेन किमपि नवीनानीव कौतुकमिदानीमपि चित्तेऽजनयन्नहो।
कानिचित्सुखानि यानि पूर्वमनुभूतान्यपि साम्प्रतमतीतवृत्तभूतान्यभवन्नहो।।

—(जयपुरवैभव, पृ० 212)

यह शैली व्रजभाषा, हिन्दी, उर्दू आदि के काव्यों में कैसी रसप्रवणता पैदा करती है, आप सबने देखी ही होगी।

केवल उक्तिभंगी द्वारा तरलता पैदा करनेवाली ऐसी शैली का एक और उदाहरण है सज्जन की शालीन-प्रकृति का यह चित्रण—

सुअणो ण कुप्पइ च्चिअ अह कुप्पइ विप्पियं ण चिंतेइ।
अह चिंतेइ ण जंपइ अह जंपइ लज्जिओ होइ।। 3/50

भट्ट मथुरानाथ शास्त्री ने इसका समछन्दोनुवाद इसप्रकार किया है—

कुप्यत्येव न सुजनो यदि कुप्यति विप्रियं न चिन्तयति।
यदि चिन्तयति न कथयति यदि कथयति लज्जितो भवति।।

यह शैली तो उक्ति-विच्छत्ति-मात्र से चमत्कार पैदा करती है, किन्तु लोकजीवन के पर्यविक्षण से बिम्ब लेकर कुटिलजनों का खाका खींचनेवाली कुछ उक्तियाँ प्राकृत से ही संस्कृत के सुभाषितों में गई होंगी, ऐसा लगता है। दर्पण की सफाई राख से की जाती थी। इस बिम्ब को लेकर 'वज्जालग्गं' की एक गाथा दुष्टजनों का चित्रण इन शब्दों में करती है—

सुअणो सुद्धसुभाओ मइलीज्जंतो वि दुज्जणजणेण।
छारेण दप्पणो विअ अहिययरं निम्मलो होइ।। 33।।

ठीक यही बात कालजयी गद्यकार सुबन्धु ने संस्कृत में कह दी है—

हस्त इव भूतिमलिनो यथा-यथा लंघयति खल: सुजनम्।
दर्पणमिव तं कुरुते तथा-तथा निर्मलच्छायम्।।

अब इनमें कौन उपजीव्य रहा है, कौन उपजीवी, —इसका निर्णय भला कौन कर सकता है? सम्भावनायें दोनों ही तरह की हैं। सुबन्धु की आर्या पहले मौलिकरूप से उद्भूत हुई हो तथा प्राकृत में उसका उपजीवन किया गया हो, यह भी सम्भव है; क्योंकि 'वज्जालग्गं' के संग्रहकार जयवल्लभ सूरि का समय 5वीं सदी ई० से लेकर 12वीं सदी तक कभी भी हो सकता है —ऐसा विद्वानों का निष्कर्ष है। यह भी हो सकता है कि गाथाओं की प्राकृत में सुप्रचलित परम्परा के क्रम में सुबन्धु ने इसे पढ़ा हो और ग्रहण किया हो, क्योंकि 'काँच की सफाई' की बात तथा आर्या छन्द, ये सभी प्राकृत और लोकजीवन में रचे बसे होने के कारण उसके अपने लगते हैं। यह अवश्य स्पष्ट लगता है कि प्रथम दो अभिव्यक्ति भंगिमायें प्राकृत तक ही सीमित रहीं, सज्जन-दुर्जन वाली

संस्कृत में भी रच बस गई। इसीप्रकार का बिम्ब है, मृदंग के पुड़े पर आटा लगाकर उसे लचीला बनाने का। इसे लेकर गाथा कहती है कि स्वार्थी मित्र को जब तक आपसे फायदा है, आपके सुर में बोलेगा, फायदा न हो, तो बेसुरा बोलने लगेगा—

अउलीणो दोमुहओ ता महुरो भोअणं मुखे जाव।
मुरओ व्व खलो जिण्णम्मि भोअणे विरसमारसइ।। 3/53

भट्ट मथुरानाथ शास्त्री ने इसे आर्या छन्द में इसप्रकार ढाला है—

अकुलीनोऽथ द्विमुखस्तावन्मधुरोऽन्नमानने यावत्।
जीर्णेऽन्ने तु मुरज इव पिशुनो बत विरसमारसति।।

इसी आशय का यह सुभाषित सदियों से पण्डितों के कंठ में बसा हुआ है—

को न याति वशं लोके मुखे पिंडेन पूरितः।
मृदंगो मुखलेपेन मधुरं कुरुते ध्वनिम्।।

यह तो बात हुई लोकजीवन के दैनन्दिन अनुभवों पर आधारित प्रेक्षणों की। वाग्विच्छत्ति की ओर वापस लौटते हुए गाथा की एक शैली की ओर ध्यान आकर्षित करना चाहूँगा। गाथाकार इस बात को कि विद्वान् और गुणी लोग अधिकतर निर्धन होते हैं, जबकि अनपढ़ करोड़पति देखे गये हैं—दारिद्र्य को सम्बोधित करके ऐसे अभिव्यक्त करता है—

जे जे गुणिणो जे जे च चाइणो जे वियड्ढविण्णाणा।
दारिद्द रे विअक्खण ताण तुमं साणुराओ सि।। 7/71

'आर्या' छन्द में यह इसप्रकार होगा—

ये ये गुणिनो ये ये च दानिनो ये विदग्धविज्ञानाः।
दारिद्र्य रे विचक्षण तेषां त्वं सानुरागमसि।। —*(भट्ट मथुरानाथ शास्त्री)*

इस बात को अभिजात संस्कृत में इसी का आधार लेकर इसप्रकार कहा गया है—

दारिद्र्य भोस्त्वं परमं विवेकि गुणाधिके पुंसि सदानुरक्तम्।
विद्याविहीने गुणवर्जिते च मुहूर्तमात्रं न रतिं करोषि।।

यह भाव 'वज्जालग्गं' में भी संकलित है। इसे पढ़कर हमें कवीन्द्र रवीन्द्र की वह उक्ति सदा याद आ जाती है, जिसमें वे दीमक से कहते हैं—"तुम सा प्रबुद्ध पाठक कोई नहीं होगा, पुस्तक के उसी हिस्से को चट कर जाती हो, जिसमें सबसे अधिक पते की बात छपी होती है।"

इसप्रकार भणितिभंगी के कुछ प्रारूप (पैटर्न) ऐसे हैं, जो प्राकृत को अपनी पहचान हैं, अभिजात भाषाओं में भी उसका प्रभाव देखा जा सकता है। यह आदान-प्रदान काव्योक्तियों के इतिहास में दिलचस्प अध्ययन का विषय बन सकता है।

इसके अतिरिक्त कुछ कवि कल्पनायें भी ऐसी हैं, जो मूलतः प्राकृत-गाथाओं में उद्भूत हुई और जिनकी गूँज आज तक विभिन्न भारतीय भाषाओं में सुनी जा सकती है।

नायिका अपना ऊपर खींचकर उतारे जानेवाला कंचुक उतार रही है, उसके हटते जाने से मुखचन्द्र के भाग आहिस्ता-आहिस्ता दिखलाई देते जाते हैं। गाथाकार कहता है कि द्वितीया से लेकर पूर्णिमा तक की चन्द्रकलाओं का एक ही समय नजारा देखना हो तो दृश्य देख लो— **जइ कोत्तिओसि सुंदर सअलतिहि-चंद-दंसणसुहाणं।**

ता मसिणं मोइज्जंत-कंचुअं पेक्खसु मुहं से।।

सुन्दर यदि कौतुकितोऽसि सकलतिथिचन्द्रदर्शन-सुखानाम्।

तन्मोच्यमानकञ्चुकमीक्षस्व मुखं मसृणमस्याः।।

—*(भट्ट श्री मथुरानाथ शास्त्रिकृत समच्छन्दोऽनुवाद)*

यह कल्पना और अभिव्यक्ति दोनों हृदयावर्जक हैं। इस उक्ति की गूँज आपको हर भाषा के साहित्य में मिल जाएगी। पिछले दिनो येसुदास का गाया एक गाना, जो एक दोहे से शुरू होता है, हमने सुना था, जिसमें यही बात कही गई है—

सब तिथियन का चन्द्रमा देखा चाहो आज।

धीरे-धीरे घूंघटा सरकाओ सरताज।।

अभिव्यक्ति की तरल-शैली का एक अन्य नमूना प्राकृत-गाथाओं से लेकर आज की नवीनतम उर्दू शायरी तक में लोकप्रिय हुआ है। प्रिय को पाती लिखने का प्रयत्न करते हो भाव-विह्वल हो जाने की विवशता सम्बोधन से आगे कुछ लिखने ही नहीं देती—

वेविरसिण्ण-करंगुलि-परिग्गह-खलिअ लेहणीमग्गे।

सोत्थि व्विअ ण समप्पइ पियअहि लेहम्मि किं लिहिमो।। 3/44

भट्ट मथुरानाथ शास्त्री ने इसका समच्छन्दोनुवाद इसप्रकार किया है—

कम्प्रस्विन्न-करांगुलिपरिग्रहस्खलित-लेखनी-मार्गे।

स्वस्त्येव पूर्यते नो प्रियसखि लेखे लिखामः किम्।।

यह शैली पतिया में कैसे लिखूँ, लिखी ही न जाई' जैसी सैकड़ों गीतियों, मुक्तकों और शेरों में देखी जा सकती है। मूलतः यह लोकभावना की अभिव्यक्ति है, क्लासिकी साहित्य की अभिजात-शैली में कम ही मिलेगी। वैसे ऐसा बहुतायत से हुआ है कि लोकभाषाओं की ऐसी अभिव्यक्तियों को अभिजात-साहित्य ने अनूदित या उद्धृत कर अपने साहित्य में चमत्कार पैदा करने का प्रयास किया हो। इसके उदाहरणस्वरूप पं० चन्द्रधर शर्मा 'गुलेरी' ने अपभ्रंश की कुछ अभिव्यक्तियों को अभिजात-साहित्य के मूल-प्रेरक के रूप में उद्धृत और विश्लेषित किया है, जिनमें सूरदास और कृष्ण का वह मिथक भी शामिल है कि सूरदास का हाथ पकड़कर कृष्ण ने उन्हें रास्ता पार करवाया; पर जब वे अचानक हाथ छुड़ाकर चले गये, तो सूरदास ने कहा—

हाथ छुड़ाए जात हो निबल जान कै मोहि।

हिरदै से जब जाहुगे सबल बदौंगे तोहि।।

इस अभिव्यक्ति का उत्स बिल्वमंगल का इसी भाव का यह श्लोक बताया गया है—

हस्तमाच्छिद्य यातोसि बलात् कृष्ण ! किमद्भुतम्?
हृदयाद् यदि निर्यासि पौरुषं गणयामि ते।

किन्तु गुलेरी जी ने मुंज से सम्बद्ध इस अपभ्रंश के दोहे को सबके मूल में माना है—

बाँह बिछोडहि जाहि तुहुँ हउँ तेवंई को दोसु।
हिअअट्ठिय जहि नीसरहि जाणउ मुंज सरोसु।। —*(हिमचन्द्र)*

—*(द्र० पुरानी हिन्दी, पृ० 51)*

अपभ्रंश में ऐसी अत्युक्तियाँ बहुत मिलती हैं कि कौये उड़ाते हुये विरहिणी के हाथ की दुर्बलता के कारण जो कंकण फिलसते जा रहे थे, उसने ज्यों ही प्रिय को आते देखा, तो शेष बचे कंकण उसके अचानक मोटे हो जाने से टूटकर बिखर गये। आशय यह है कि प्रसन्नता का भाव आते ही नायिका ऐसी फूली कि तत्काल हाथ की चूड़ियाँ चटक गईं। हेमचन्द्र द्वारा उदाहृत पद्यों में इसीप्रकार की जबर्दस्त अतिशयोक्ति का यह दोहा पं० चन्द्रधर शर्मा 'गुलेरी' ने उद्धृत किया है—

वायसु उड्डंतए पिय दिट्ठिय सहसत्ति।
अद्धा वलया महि गया अद्धा फुट्ट तडत्ति।। —*(हिमचन्द्र)*

ऐसी अत्युक्तियाँ उर्दू में भले ही हों, संस्कृत में या प्राकृत में उनकी कोई सुदीर्घ परम्परा नहीं रही है। वैसे संस्कृत में सब तरह की अतिशयोक्तियाँ रही हैं। परवर्ती लक्षणकारों ने भी कुछ ऐसे पद्यों के एक दो उदाहरण दिये हैं। वे ऐसे दोहों के प्रभाव से गूढ़ भी हो सकते हैं; जैसे—

यामि न यामीति धवे वदति पुरस्तत्क्षणेन तन्वंग्याः।
गलितानि पुरो वलयान्यपराणि तथैव दलितानि।।

उर्दू में विरहियों को विरहताप से जलते बताया जाता है। सारा का सारा जंगल उससे जल जाता है। विरहिणी की ऐसी ही दशायें बिहारी ने भी चित्रित की हैं। ऐसी अभिव्यक्तियाँ अपभ्रंश में आम हैं। एक बार तो विरह से जलते पथिक को अन्य पथिकों ने जाड़े में तापने की अंगीठी के रूप में इस्तेमाल कर लिया था—

विरहानल-जाल करालिअउ पहिउ पंथि जं दिट्ठउ।
तं मेलहिं सव्वहिं पंथिअहिं सो जि कियउ अग्गिट्ठउ।। —*(हिमचन्द्र)*

यह गनीमत रही कि प्राकृत-गाथाओं में जो निश्छल और यथार्थ भावचित्रण की प्रतिमान हैं, उनमें ऐसी अविश्वसनीय अत्युक्तियाँ नहीं हैं। लगता है ये अपभ्रंश-काल में शुरू हुईं और उर्दू जैसी भाषाओं की शायरी ने उन्हें शैली में चमत्कारातिशय के संधान की ललक के कारण बहुत अपनाया। अभिव्यक्ति-भंगिमाओं के इतिहास पर ऐसे अध्ययन अधिक नहीं हुए हैं। हो सकता है, इन्हें सही मायनों में शोध न माना जाता हो, किन्तु लगता है इन अध्ययनों की अपनी विशिष्ट सार्थकता है। ❖❖

अपभ्रंश भाषा एवं उसके कुछ प्राचीन सन्दर्भ

—प्रो० (डॉ०) राजाराम जैन

अपभ्रंश-भाषा का मूल उत्स प्राकृतभाषा रही है। विशेषत: साहित्यिक-अपभ्रंश का मूलस्रोत तो 'शौरसेनी प्राकृत' ही प्रधानत: रही है। यह एक गंभीरतापूर्वक मननीय एवं निष्पक्षभाव से विचारणीय तथ्य है। इस तथ्य के लिए अत्यन्त गहन अध्ययन, अनुसंधान एवं पुष्ट प्रमाणों से विद्वान् लेखक ने सक्षमरीति से इस आलेख में प्रस्तुत किया है। यह प्रयास न केवल पठनीय, मननीय एवं अनुकरणीय है; अपितु अभिनंदनीय भी है।

—**सम्पादक**

वैयाकरणों ने 'प्राच्य प्राकृत' की तृतीय अवस्था अथवा उसके परवर्त्ती विकसित रूप को अपभ्रंश माना है। वस्तुत: जब कोई भी बोली व्याकरण एवं साहित्य के नियमों में आबद्ध हो जाती है, तब वह काव्य-भाषा का रूप ग्रहण कर लेती है। उसका यह रूप 'परिनिष्ठत रूप' कहलाता है और यह काव्य के रम्य कलेवर में सुशोभित होने लगता है। प्रस्तुत अपभ्रंश-भाषा की भी यही स्थिति है। बलभी (वर्तमान गुजरात) के राजा **धरसेन द्वितीय** (678 ई०) के एक दानपत्र[1] से यह स्पष्ट हो जाता है कि उसके समय में संस्कृत एवं प्राकृत के साथ ही अपभ्रंश में भी काव्य-रचना करना एक विशिष्ट प्रतिभा का द्योतक प्रशंसनीय चिह्न माना जाने लगा था। उक्त दानपत्र में धरसेन ने अपने पिता गुहसेन (559-569 ई०) को संस्कृत, प्राकृत एवं अपभ्रंश-काव्य-रचना में अत्यन्त निपुण कहा है। इससे ज्ञात होता है कि अपभ्रंश छठवीं सदी तक व्याकरण एवं साहित्य के नियमों से परिनिष्ठत हो चुकी थी और वह काव्य-रचना का माध्यम बन चुकी थी।

छठवीं सदी के उत्तरार्ध में अपभ्रंश को महत्त्वपूर्ण स्थान मिला। **भामह** (छठवी सदी) ने उसे काव्य-रचना के लिए अत्यन्त उपयोगी मानते हुए संस्कृत एवं प्राकृत के बाद तृतीय स्थान दिया।[2] यद्यपि भामह ने यह सूचना नहीं दी कि अपभ्रंश किसकी बोली थी या किसे इसका प्रयोग करना चाहिये, फिर भी अपभ्रंश का अस्तित्व छठवीं सदी के अन्तिम चरण में आ चुका था अथवा अपभ्रंश ने काव्य का परिधान स्वीकार कर लिया था, इसका पूर्ण निश्चय भामह के उल्लेख से हो जाता है।

महाकवि दण्डी (7वीं सदी) ने भी शास्त्रों में संस्कृतेतर शब्दों को अपभ्रंश एवं काव्यों में आभीरादि की भाषा को अपभ्रंश माना है।[3] इतना ही नहीं, उसने समस्त उपलब्ध भारतीय-वाङ्मय को संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश एवं मिश्र नामक चार भेदों में विभक्त[4] कर भामह द्वारा अपभ्रंश को दी गई महत्ता का समर्थन किया है। उसने अपभ्रंश-काव्यों में प्रयुक्त होनेवाले ओसरादि[5] छन्दों का निर्देश करके अपभ्रंश-साहित्य के समृद्ध हो चुकने की सूचना भी दी है। यहाँ इस बात का ध्यान रखना अत्यावश्यक है कि दण्डी ने प्रचलित साहित्य को चार भेदों में विभक्त किया है। भाषाभेद का उसका दृष्टिकोण नहीं है। कुछ लोग भूल से अपभ्रंश को प्राकृत से भिन्न मानने लगते हैं, किन्तु दण्डी ने ऐसा कभी भी एवं कहीं भी नहीं कहा। जिसप्रकार शौरसेनी या पालि अथवा मागधी 'प्राकृत' का एक प्राचीनतम रूप है, उसीप्रकार अपभ्रंश भी प्राकृत का एक नवीनतम रूप है।[6] वस्तुत: अपभ्रंश ने आठवीं सदी के पूर्व से ही एक ऐसा गौरवपूर्ण स्थान प्राप्त कर लिया था कि उद्योतनसूरि (वि०सं० 835) को संस्कृत, प्राकृत एवं अपभ्रंश की तुलना करते हुए लिखना पड़ा था[7]— *"अनेक पद-समास, निपात, उपसर्ग, विभक्ति एवं लिंग की दुरूहता के कारण संस्कृत दुर्जन-व्यक्तियों के समान विषम है। समस्त कला-कलापों की मालारूपी जल-कल्लोलों से व्याप्त, लोकवृत्तान्तरूपी महासागर से महापुरुषों द्वारा निष्कासित, अमृत-बिन्दुओं से युक्त तथा यथाक्रमानुसार वर्णों एवं पदों से संघटित, विविध रचनाओं के योग्य तथा सज्जनों की मधुरवाणी के समान ही सुख देने वाली प्राकृत होती है। संस्कृत एवं प्राकृत से मिश्रित शुद्ध-अशुद्ध पदों से युक्त सम एवं विषम तरंग-लीलाओं से युक्त, वर्षाकाल के नवीन मेघ-समूहों के द्वारा प्रवाहित जलपूरों से युक्त, पर्वतीय नदी के समान तथा प्रणयकुपित प्रणयिनी के समुल्लापों के समान ही अपभ्रंश रसमधुर होती है।"*

अपभ्रंश-साहित्य और उसका महत्त्व

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि छठवीं सदी के अनन्तर अपभ्रंश से साहित्यिक रचनायें होने लगी थीं। वैसे तो इसके पूर्व से भी साहित्यिक रचनायें लिखी जाने लगी थीं और **चउमुह, द्रोण** एवं **ईशान** ने महत्त्वपूर्ण साहित्य-प्रणयन किया था; किन्तु दुर्भाग्य से वर्तमान में वह अनुपलब्ध है। अत: उपलब्ध साहित्य के आधार पर यही माना जा सकता है कि अपभ्रंश-साहित्य छठवीं सदी से 11वीं सदी के मध्य प्रचुरमात्रा में लिखा गया। विशेषज्ञों ने इस कालखण्ड को 'अपभ्रंश का स्वर्णयुग' माना है।

अपभ्रंश-साहित्य भारत के अनेक प्रान्तों में अप्रकाशित रूप से प्रचुरमात्रा में उपलब्ध है, किन्तु दुर्भाग्य से उसका अभी तक पूरा लेखा-जोखा नहीं हो पाया है; क्योंकि उसकी खोज एवं सूचीकरण-प्रक्रिया बड़ी ही धैर्यसाध्य, समयसाध्य, व्ययसाध्य एवं कष्टसाध्य है। यह एक सर्वमान्य सुखद आश्चर्य है कि प्राचीनकाल से ही लोकभाषाओं को जीवन्त बनाकर तथा उन्हें साहित्य-लेखन-हेतु सामर्थ्य प्रदान करने में कुशल जैन-साधकों,

जैन-आचार्यों एवं कवियों ने लगभग 65 प्रतिशत से भी अधिक विवधि विधाओंवाले अपभ्रंश-साहित्य का प्रणयन किया है। इतर साक्ष्यों तथा नवांगी जैन-मन्दिरों में सुरक्षित उनकी सचित्र एवं सामान्य पाण्डुलिपियाँ तथा उनकी प्रशस्तियाँ इसका स्पष्ट उद्घोष कर रही हैं। देश-विदेश के प्राच्यविद्याविदों एवं भाषाविज्ञानियों ने उसे मील-पत्थर मानकर मुक्तकण्ठ से उसकी प्रशंसा की है। इस साहित्य की अनेक पाण्डुलिपियाँ एशियाई एवं यूरोपीय देशों के अनेक शास्त्र-भाण्डारों में भी येन-केन प्रकारेण ले जाई गई हैं। वहाँ उन (पाण्डुलिपियों) की क्या स्थिति है? —इसकी विस्तृत जानकारी नहीं मिल सकी है।

जैसा कि पूर्व में कहा जा चुका है, उसमें प्राच्य एवं मध्यकालीन इतिहास, संस्कृति, समाज एवं लोकजीवन का विविध चरितों एवं कथाओं के माध्यम से सजीव चित्रण हुआ है। हिन्दी एवं अन्य प्रादेशिक भाषाओं एवं साहित्य के विकास की कथा का परिज्ञान तथा लोकाभिप्रायों एवं कथानक-रूढ़ियों का अध्ययन, अपभ्रंश-भाषा एवं उसके साहित्य के अध्ययन के बिना सम्भव नहीं। अत: यह आवश्यक है कि उनके बहुआयामी विस्तृत अध्ययन-हेतु अद्यावधि अप्रकाशित अपभ्रंश-ग्रन्थों की खोजकर उनका तत्काल प्रकाशन किया जाये।

यूनान, चीन, मिश्र, श्रीलंका, दक्षिण-पूर्व एशिया एवं अरब देशों के उपलब्ध कुछ लोक-साहित्य का अध्ययन करने से ऐसा ज्ञात होता है कि कोटिभट्ट श्रीपाल; चारुदत्त, भविष्यदत्त, जिनेन्द्रदत्त एवं अचल जैसे प्राचीन एवं मध्यकालीन भारतीय महासार्थवाहों एवं उनके रूपों में सांस्कृतिक दूतों के माध्यम से अनेक भारतीय कथाओं का यहाँ से उक्त देशों में गमन हुआ है। डॉ० हर्टेल[8], डॉ० मोरिस विंटरनिट्ज[9], डॉ० ओटो स्टेन, डॉ० कालिदास नाग, डॉ० कामताप्रसाद, डॉ० मोतीचन्द्र एवं डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल आदि के तुलनात्मक अध्ययन के निष्कर्षों के अनुसार उनमें अधिकांश जैन-कथायें थीं, जिन्होंने उन देशों के जनमानस के साथ-साथ वहाँ के साहित्य को भी प्रभावित किया है। वर्तमान में इनके तुलनात्मक अध्ययन के महती आवश्यकता है।

आइने-अकबरी के सुप्रसिद्ध लेखक **अबुल-फज़ल** एवं 'खुश्फ़हम' (सम्राट् अकबर द्वारा प्रदत्त) उपाधिधारी विख्यात जैनाचार्य भानुचन्द्र-सिद्धिचन्द्र गणी (महाकवि बाणभट्टकृत कादम्बरी के आद्य टीकाकार) के कुछ उल्लेखों से ऐसा प्रतीत होता है कि तत्कालीन प्रचलित कुछ जैन-कथाओं का फारसी में भी अनुवाद किया गया था और वहाँ का सहस्ररजनी-चरित (Arabian Nights) का मूलाधार कुछ हेर-फेर के साथ अधिकांश वही कथायें रही होंगी।

मध्यकालीन विविध साहित्यिक शैलियों की दृष्टि से तो जैन-कथा-साहित्य का महत्त्व है ही, पूर्वोक्त चारुदत्तचरित, श्रीपालचरित एवं भविष्यदत्तचरित जैसे कथाकाव्यों तथा

'मूलदेव कथानक' के माध्यम से इनमें वैदेशिक-व्यापार, आयात-निर्यात, यातायात के साधन, जलदस्युओं तथा अन्य कारणों से सामुद्रिक-यात्रा की कठिनाइयों, उद्योग-धन्धे, कराधान एवं कर-चोरी, शिल्पकला-कौशल, सामाजिक रीति-रिवाज, धार्मिक अन्धविश्वास एवं नर-नारियों के विविध चरित्रों की प्रासंगिकता और समकालीन विविध परिस्थितियों को भी प्रकाशित किया गया है। मध्यकालीन भारतीय इतिहास के विविध पक्षों के लेखन की दृष्टि से ये साक्ष्य बड़े ही महत्त्वपूर्ण हैं।

'पुण्णासवकहा-प्रशस्ति' में उल्लिखित चन्द्रवाड-पट्टन (वर्तमान चंदुवार-ग्राम) के वर्णन से स्पष्ट होता है कि 15वीं-16वीं सदी का वह एक प्रमुख व्यापारिक केन्द्र था। वहाँ 84 बार पंचकल्याणक प्रतिष्ठायें हुई थीं। कवि के वर्णनानुसार वहाँ बहुमूल्य हीरे, माणिक्य, पुखराज, स्फटिक आदि की अनेक सुन्दर जैन मूर्तियों का निर्माण एवं प्रतिष्ठायें हुई थीं। ये तथ्य रइधूकालीन चन्द्रवाडपट्टन की श्री-समृद्धि एवं वहाँ के निवासियों की सांस्कृतिक अभिरुचियों की सूचना देते हैं। वर्तमान में वह नगर एक उजाड़ ग्राम के रूप में रह गया है, किन्तु स्फटिक आदि की बहुमूल्य सुन्दर मूर्तियाँ अभी भी वहाँ खुदाई में उपलब्ध होती हैं। उक्त ग्रन्थ की प्रशस्ति के आधार पर चन्द्रवाडपट्टन के अतीतकालीन वैभव की खोज की जा सकती है।

उक्त कथा-काव्यों में प्रसंगवश आचार्य भद्रबाहु, सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्य (प्रथम), सम्राट् अशोक एवं सम्प्रति की कथा भी उपलब्ध होती है, जिसमें जैन संघ-भेद जैसे अनेक नवीन रोचक ऐतिहासिक तथ्य प्राप्त होते हैं।

वर्तमान युग चरित्र-संकट एवं घोर नैतिक-ह्रास का युग है। मानवीय मूल्यों का उसमें क्षिप्रगति से अवमूल्यन हो रहा है। भ्रष्ट राजनीति, जमाखोरी, घूसखोरी, हिंसा-प्रतिहिंसा, पदलोलुपता, ऊँच-नीच एवं गरीबी-अमीरी का भेदभाव, शराब-खोरी, जुआखोरी, मिलावट, चोरी-डकैती, हत्यायें एवं बलात्कार आदि कुकर्म समाज एवं राष्ट्र को खोखला बना रहे हैं। उनका समाधान उक्त कथा-साहित्य की सोद्देश्य लिखित नीति-प्रधान एवं चरित्र-निर्माण-सम्बन्धी आदर्श कथायें कर सकती हैं। पाँच अणुव्रतों का पालन, सप्त-व्यसनों का त्याग, चतुर्विध-दान का महत्त्व, कठोर परीषहों का सहन आदि सम्बन्धी कथायें सरस एवं सरल भाषा-शैली में लिखकर स्वस्थ समाज एवं राष्ट्र-निर्माण की दृष्टि से अपभ्रंश के जैन कवियों ने अद्वितीय कार्य किया है।

अपभ्रंश-साहित्य का भाषा-शास्त्र एवं काव्यरूपों की दृष्टि से जितना महत्त्व है, उससे कहीं अधिक उसका महत्त्व परवर्ती काल-साहित्य-लेखन को देन की दृष्टि से है। अपभ्रंश के प्रायः समस्त जैन कवि, आचार, अध्यात्म एवं दार्शनिक तथ्यों तथा लोक-जीवन की अभिव्यंजना कथाओं के परिवेश द्वारा ही करते रहे हैं। इसप्रकार के आख्यानों के माध्यम से अपभ्रंश-साहित्य में मानव-जीवन एवं जगत् की विविध मूक-भावनायें एवं

अनुभूतियाँ मुखरित हुई हैं। इसमें यदि एक ओर नैतिक एवं धार्मिक आदर्शों की गंगा-जमुनी प्रवाहित हुई है, तो दूसरी ओर लोक-जीवन से प्रादुर्भूत ऐहिक रस के मदमाते रससिक्त निर्झर भी फूट पड़े हैं। एक ओर वह पुराण-पुरुषों के महामहिम चरित्रों से समृद्ध हैं, तो दूसरी ओर वणिक्पुत्रों अथवा सामान्य वर्ग के सुखों-दु:खों अथवा रोमांसपूर्ण कथाओं से परिव्याप्त है। श्रद्धा-समन्वित भावभीनी स्तुतियों, सरस एवं धार्मिक सूक्तियों तथा ऐश्वर्य-वैभव, वैवाहिक उत्सव एवं भोग-विलासजन्य वातावरण, वन-विहार, संगीत-गोष्ठियाँ, जल-क्रीड़ायें आदि विषयों से सम्बन्धित विविध चित्र-विचित्र चित्रणों से अपभ्रंश-साहित्य की विशाल चित्रशाला अलंकृत है।

नारी-जीवन में क्रान्ति की सर्वप्रथम समर्थ चिनगारी अपभ्रंश-साहित्य में दिखलाई पड़ती है, जिसकी प्रशंसा महापण्डित राहुल सांकृत्यायन जैसे महान् चिन्तकों ने भी मुक्तकण्ठ से की है। महासती सीता, रानी रेवती, महासती अनन्तमती, रानी प्रभावती प्रभृति नारी-पात्रों ने इस दृष्टि से अपभ्रंश के कथा-साहित्य में एक नवीन क्रान्तिकारी यशस्वी जीवन प्राप्त किया है। महाकवि रइधू की 'पुण्णासवकहा' रचना भी अपभ्रंश के कथा अथवा आख्यान-साहित्य की दृष्टि से अपना विशेष महत्त्व रखती है।

अपभ्रंश-साहित्य जोइंदु कवि कृत 'परमप्पयासु' एवं 'जोयसारु' जैसे मुक्तक-काव्य से आरम्भ होकर प्रबन्धकाव्य-विधा में पर्यवसान को प्राप्त हुआ है। यत: साहित्य की परम्परा सदैव मुक्तक से ही आरम्भ होती है। प्रारम्भ में जीवन किसी एक दो भावना के द्वारा ही अभिव्यंजित किया जाता है, पर जैसे-जैसे ज्ञान और संस्कृति के साधनों का विकास होने लगता है, जीवन भी विविधमुखी होकर साहित्य में प्रस्फुटित होता चलता है। संस्कृत और प्राकृत में साहित्य की जो विविध प्रवृत्तियाँ अग्रसर हो रही थीं, प्राय: वे ही प्रवृत्तियाँ कुछ रूपान्तरित होकर अपभ्रंश-साहित्य में भी प्रविष्ट हुई। फलत: दोहा-गान के साथ-साथ प्रबन्धात्मक पद्धति भी अपभ्रंश में समादृत हुई। इस दृष्टि से चउमुह, द्रोण, ईशान, स्वयम्भू, धनपाल, पउमकित्ति, नयनंदि, वीर एवं विबुध श्रीधर जैसे ज्ञात एवं अनेक अज्ञात एवं विस्मृत कवि प्रमुख हैं।

सन्दर्भ-सूची :—

1. संस्कृतप्राकृतापभ्रंशभाषात्रयप्रतिबद्धप्रबन्धररचनानिपुणतरान्त:करण......
   —*(Indian Antiquary, Vol. X, 284, Oct. 1881 A.D.)*
2. शब्दार्थो सहितं काव्यं गद्यं-पद्यं च तदद्विधा।
   संस्कृतं प्राकृतं चान्यदपभ्रंश इति त्रिधा।। —*(काव्यालंकार 1, 16, 28)*
3. आभीरादिगिर: काव्येष्वपभ्रंश इति स्मृत:।
   शास्त्रेषु संस्कृतादन्यदपभ्रंश तयोदितम्।। —*(काव्यादर्श 1/36)*
4. तदेतद् वाङ्मयं भूय: संस्कृतं प्राकृतं तथा।

अपभ्रंशश्च मिश्रं चेत्याहुरार्याश्चतुर्विधम्।। —*(काव्यादर्श 1/32)*

5. संस्कृतं सर्गबन्धादि प्राकृतं स्कन्धाकादि यत्।
ओसरादिरपभ्रंशो नाटकादि तु मिश्रकम्।। —*(काव्यादर्श 1/37)*

6. देखिये— It will be clear from the above the Dandin is speaking of certain languages from the literature point of view and not from the Linguistic one. Hence, the bad logic of segregating Apabhramsha from the Prakrits, of whom indeed it is only the youngest phase just as (Shauraseni or Pali or Magadhi) is the oldest, may be excused in his case. —*(See– Bhavisadayattakaha of Dhanapala, Published by G.O.R.I. Baroda, 1967, Introd. Page 52)*

7. "अरे, कयरीए, उण भासाए एवं उल्लवियई केणावि किं पि। हुं अरे, सक्कयं ताव ण होइ जेण तं अणेय-पय-समास-णिवाओवसग्ग विभत्ति-लिंग-परियप्पणा-कुवियप्पसय-दुग्गमं दुज्जण-हिययं पिव विसमं। इमं पुण ण एरिसं। ता किं पाययं होज्ज। हुं, तं पि णो जेण तं सयल-कला-कलाव-माला-जल-कल्लोल-संकुलं-लोय-वुत्तंत-महोयहि महापुरिस-महणुग्गयामय-णीसंद-बिंदु-संदोहं संघडिय-एक्केक्क वण्ण-पय-णाणारूव-विरयणा-सहं सज्जण-वयणं पिव सुह-संगयं। एयं पुण ण सुट्ठु ता किं पुण अवहंसं होहिइ हुं, तं पि णो, जेण सक्कय-पायओभय-सुद्धासुद्ध-पय-सम- विसम-तरंग-रंगंत-वग्गिरं णाव-पाउस-जलय-पवाह-पूर-पव्वालिय-गिरि-णइ-सरिसं सम-विसमं पणय-कुविय-पिय-पणइणी-समुल्लाव-सरिस मणोहरं।"
—*(कुवलयमालाकहा—सम्पा० डॉ० ए०एन० उपाध्ये (बम्बई, 1959), पृ० 71, पंक्ति, 1-8 पर्यन्त)*

8. Jainas as possess an extremely valuable narrative literature which includes stories of every kind romances, novels, parables and beast fables, legends and fairy tales and funny stories of description. The sweatambara monks used these stories as the most effective means of spreading their doctrines amongst their countrymen and developed a real art of narration in all the above mentioned languages in prose and vase in kavya as well as in the plainest style of every day life.
—*(See– on the literature of the Swetambaras of Gujarat (Leipzig, Germany, 1922) Page 6)*

9. All the events many agem of the narrative art of ancient India has come down to us by way of the Jaina commentaries and narrative literature which would otherwise have been consigned to oblivion and in other cases the Jainas have preserved interesting versions of numerous legends and tales which are known from other sources also.
—*(See–History of Indian Literature (University of Calcutta, 1993) Page 487)*

❖❖

नव-खिष्टाब्दि अष्टक

—*विद्यावारिधि डॉ० महेन्द्र सागर प्रचंडिया*

नये वर्ष पर कीजिये, नया-नया संकल्प।
सदाचार-सत्कर्म का, होवे नहीं विकल्प।। 1।।

सौख्य 'औ समृद्धि का, सत्य-अहिंसा-सार।
इस पर चलकर सब करें, जीवन का उद्धार।। 2।।

शाकाहारी हम बनें, शाकाहारी देश।
पशु-पक्षी खुशहाल हों, पा सन्मति-सन्देश।। 3।।

व्यसन-मुक्त हर श्वास हो, फैले शील-सुगंध।
समता के संचार से, मिटे द्वेष-दुर्गंध।। 4।।

प्रामाणिक जीवन जियें, करके श्रम सातत्य।
होय हृदय से अतिथि का, हर घर में आतिथ्य।। 5।।

संतों की हो वन्दना, गुणी-जनों का मान।
मंत्रों की अनुगूंज से, सबको हो कल्याण।। 6।।

घर-घर में दीपक जलें, फैले प्रेम-प्रकाश।
हर वाणी में घुली हो, अमृतमयी मिठास।। 7।।

ज्ञान और श्रद्धान से, खुलें भाग्य के द्वार।
हर घर में होने लगे, नित्य मंगलाचार।। 8।।

पज्जुण्णचरिउ

—प्रो० (डॉ०) विद्यावती जैन

प्राकृत की सुयोग्य उत्तराधिकारिणी अपभ्रंश-भाषा का साहित्य अत्यन्त समृद्ध है। इसमें विद्वान् लेखकों ने अपनी प्रतिभा के प्रयोग से अनेकों चमत्कार उत्पन्न किये हैं। ऐसे ही एक अद्भुत ग्रंथ का परिचयात्मक मूल्यांकन इस विशिष्ट आलेख में विदुषी लेखिका ने प्रस्तुत किया है।
—सम्पादक

'पज्जुण्णचरिउ' प्रद्युम्नचरित-सम्बन्धी अपभ्रंश-भाषा में लिखित सर्वप्रथम स्वतन्त्र महाकाव्य है। वह जैन-परम्परानुमोदित महाभारत का एक अत्यन्त मर्म-स्पर्शी आख्यान है। महाकवि जिनसेन (प्रथम) कृत 'हरिवंशपुराण' एवं गुणभद्र कृत 'उत्तरपुराण' जैसे पौराणिक महाकाव्यों से कथा-सूत्रों को ग्रहण कर महाकवि सिंह ने उसे नवीन भाषा एवं शैली से सजाकर एक आदर्श मौलिक स्वरूप प्रदान करने का सफल प्रयास किया है। जैन-परम्परानुसार प्रद्युम्न 21वाँ कामदेव था।[1] वह पूर्व-जन्म के कर्मों के फलानुसार नारायण श्रीकृष्ण का पुत्र होकर भी जन्म-काल से ही अपहृत होकर विविध कष्टों को झेलता रहता है। माता-पिता का विरह, अपरिचित-परिवार में भरण-पोषण, सौतेले भाइयों से संघर्ष, दुर्भाग्यवश धर्म-पिता से भी भीषण-युद्ध, विमाता के विविध षड्यन्त्र और अनजाने ही पिता श्रीकृष्ण से युद्ध जैसे घोर-संघर्षों के बीच प्रद्युम्न के विवश-जीवन को पाठकों की पूर्ण सहानुभूति प्राप्त होती है। विविध विपत्तियाँ प्रद्युम्न के स्वर्णिम भविष्य के लिए खरी-कसौटी सिद्ध होती हैं। काल-लब्धि के साथ ही उसके कष्ट समाप्त होते हैं। माता-पिता से उसका मिलाप होता है तथा वह एक विशाल साम्राज्य का सम्राट् बन जाता है; किन्तु भौतिक सुख उसे अपने रंग में नहीं रंग पाते। शीघ्र ही वह उनसे विरक्त होकर मोक्ष-लाभ करता है।

कवि ने उक्त कथानक को 15 सन्धियों एवं उनके कुल 308 कड़वकों में चित्रित किया है, ज़ो निम्न प्रकार हैं:—

सन्धि-क्रम	कुल कड़वक संख्या	विषय
1	16	कवि सिद्ध द्वारा स्वप्न में सरस्वती-दर्शन एवं उनकी प्रेरणा से

		ग्रन्थ-प्रणयन तथा सौराष्ट्र-देश की सुरम्यता का वर्णन।
2	20	कृष्ण और बलभद्र का कुण्डिनपुर जाकर रुक्मिणी-हरण तथा शिशुपाल-वध।
3	14	रुक्मिणी के पुत्र प्रद्युम्न का जन्म एवं धूमकेतु-असुर द्वारा उसका हरण।
4	17	पुत्र-हरण एवं तत्सम्बन्धी शोक, नारद का प्रद्युम्न की खोज में सीमन्धर स्वामी के समवशरण में पहुँचना एवं उनके द्वारा प्रद्युम्न के पूर्व-बैर की कथा का आरम्भ।
5	17	प्रद्युम्न का पूर्वभव-निरूपण एवं मगध देश का वर्णन।
6	23	प्रद्युम्न का पूर्वभव-निरूपण एवं उस माध्यम से अयोध्या एवं कौशल-नरेशों का सौन्दर्य-वर्णन एवं बल-निरूपण।
7	18	नारद का रुक्मिणी को सन्देश देना कि प्रद्युम्न का मेघकूटपुर के राजा के यहाँ लालन-पालन हो रहा है तथा वह 16 वर्ष पूर्ण होने पर वापिस आयेगा।
8	19	कुमार प्रद्युम्न को सोलह-विद्याओं का लाभ।
9	24	कुमार प्रद्युम्न और राजा कालसंवर का परस्पर में भीषण युद्ध एवं नारद द्वारा युद्ध को रोकना।
10	21	नारद के साथ कुमार प्रद्युम्न का द्वारकापुरी के लिए प्रयाण एवं मार्ग में दुर्योधन की पुत्री उदधिकुमारी से भेंट तथा प्रद्युम्न का अनेक रूप धारण कर कौतुक करना एवं सत्यभामा के पुत्र भानु का मान-भंग करना।
11	23	अनेक प्रकार के क्रिया-कलाप करते हुए प्रद्युम्न का अपने पितामह के साथ मेष-युद्ध, तत्पश्चात् क्षुल्लक-वेश में अपनी माता रुक्मिणी के पास पहुँचना।
12	28	प्रद्युम्न का विविध रूप बनाकर द्वारकावासी नर-नारियों को परेशान करना एवं बलभद्र के साथ सिंह-वेश में युद्ध करना।
13	17	प्रद्युम्न का कृष्ण के साथ भीषण युद्ध, बाद में नारद द्वारा युद्ध बन्द कराकर पिता-पुत्र का मिलन करवाना।
14	24	प्रद्युम्न एवं भानु-विवाह, शम्बु-जन्म, सुभानु-जन्म एवं उसका विवाह और शम्बु के विवाह के लिए कुण्डिनपुर के राजा रूपकुमार से युद्ध।
15	28	राजा रूपकुमार पर विजय प्राप्त कर उनकी पुत्रियों से प्रद्युम्न एवं शम्बु का विवाह। तीर्थंकर नेमिनाथ द्वारा द्वारका-विनाश एवं जरत्कुमार के द्वारा श्रीकृष्ण की मृत्यु की भविष्यवाणी तथा शम्बु, भानु, अनिरुद्ध,

सत्यभामा, रुक्मिणी आदि का तपश्चरण एवं स्वर्ग-प्राप्ति तथा प्रद्युम्न का मोक्षगमन।

रचनाकाल-निर्णय

'पज्जुण्णचरिउ' में कवि के जन्म-काल या लेखन-काल के विषय में कोई सूचना उपलब्ध नहीं है। जहाँ तक हमारा अध्ययन है, परवर्त्ती अन्य कवियों ने भी उसका स्मरण नहीं किया। अत: उसके जन्म या लेखनकाल-विषयक विचार करने के लिये निश्चित प्रमाण उपलब्ध नहीं हो सके हैं। किन्तु कवि ने अपनी प्रशस्ति में अपने भट्टारक-गुरु एवं कुछ राजाओं के उल्लेख अवश्य किये हैं, जिनसे विदित होता है कि उसका समय 12वीं-13वीं सदी रहा होगा। इसके समर्थन में निम्न तर्क प्रस्तुत किये जा सकते हैं :—

(1) 'पज्जुण्णचरिउ' की प्राचीनतम प्रतिलिपि आमेर के शास्त्र-भण्डार में सुरक्षित है, जिसका प्रतिलिपि काल वि०सं० 1553 है। अत: इसकी रचना इसके पूर्व हो चुकी थी।

(2) कवि ने 'गज्जणदेश' अर्थात् 'गजनी' का उल्लेख किया है। यह ध्यातव्य है कि महमूद गजनवी ने भारत में जिस प्रकार भयानक आक्रमण किए थे तथा सोमनाथ में जो विनाश-लीला मचाई थी, भारत और विशेष रूप से गुजरात उसे कभी भुला नहीं सकता। परवर्त्ती कालों में गजनी की उस विनाश-लीला की चर्चा इतनी अधिक रही कि कवि ने भावाभिभूत होकर अन्योक्तियों के माध्यम से अथवा प्रद्युम्न एवं भानुकर्ण, प्रद्युम्न एवं कृष्ण आदि के माध्यम से उसकी झलक 'पज्जुण्णचरिउ' में प्रदर्शित की है। युद्ध में प्रयुक्त कुछ शस्त्रोपकरणों के उल्लेखों में भी उसके साथ समानता है। उक्त महमूद गजनवी का समय वि०सं० 1142 के आसपास है।

(3) कवि ने अर्णोराज, बल्लाल एवं भुल्लण जैसे शासकों के नामोल्लेख किए हैं। बड़नगर की वि०सं० 1207 की एक प्रशस्ति के अनुसार कुमारपाल ने अपने राजमहल के द्वार पर उक्त मृत बल्लाल का कटा मस्तक लटका दिया था। कुमारपाल का समय वि०सं० 1143 से 1173 के मध्य है।

अत: उक्त तथ्यों के आधार पर 'पज्जुण्णचरिउ' का रचनाकाल 12वीं सदी का अन्तिम चरण या 13वीं सदी (विक्रमी) का प्रारम्भिक चरण सिद्ध होता है।

मूल प्रणेता कौन?

'पज्जुण्णचरिउ' की आद्य-प्रशस्ति से स्पष्ट विदित होता है कि प्रस्तुत ग्रन्थ का मूलकर्त्ता महाकवि सिद्ध है; किन्तु इसकी अन्त्य-प्रशस्ति से ज्ञात होता है कि किन्हीं प्राकृतिक उपद्रवों के कारण वह रचना विनष्ट अर्थात् गलित हो चुकी थी। अत: अपने गुरु मलधारी देव अमृतचन्द्र के आदेश से महाकवि सिंह ने उसका छायाश्रित उद्धार किया था।[2]

उद्धारक महाकवि सिंह ने अन्त्य-प्रशस्ति में स्वयं लिखा है "एक दिन गुरु (मलधारीदेव अमृतचन्द्र) ने कहा "हे छप्पय-कविराज ! (अर्थात् षट्पदियों के प्रणयन में दक्ष हे कविराज),

हे बाल-सरस्वती ! हे गुणसागर ! हे दक्ष ! हे वत्स ! कवि सिंह ! साहित्यिक-विनोद के बिना ही अपने दिन क्यों बिता रहे हो? अब तुम मेरे आदेश से चतुर्विध-पुरुषार्थ-रूपी रस से भरे हुए, कवि सिद्ध द्वारा विरचित, किन्तु दुर्दैव से विनष्ट हुए उसके (सिद्ध कवि के) इस 'पज्जुण्णचरिउ' का निर्वाह करो; क्योंकि तुम गुणज्ञ एवं सन्त हो। तुम ही उस विनष्ट ग्रन्थ का छायाश्रित निर्माण कर सकते हो।" उक्त कथन से यह स्पष्ट है कि 'पज्जुण्णचरिउ' की कवि सिद्ध-कृत रचना पूर्णतया नष्ट तो नहीं, किन्तु कुछ विगलित अवश्य हो चुकी थी तथा उसी रूप में भट्टारक अमृतचन्द्र को उपलपब्ध हुई थी। अत: उसके उद्धार के लिए ही उक्त भट्टारक द्वारा कवि सिंह को आदेश दिया गया था। वर्तमान में उपलब्ध 'पज्जुण्णचरिउ' सिंह कवि-कृत पूर्वोक्त छायाश्रित रूप है।

कवि सिंह ने 'पज्जुण्णचरिउ' के उद्धार-प्रसंगों में यद्यपि करहि (15/29/19), विरयहि (15, 29, 27), णिम्मविय (15, 29, 33), रइयं (15, 29, 35) जैसे शब्दों के प्रयोग किए हैं, किन्तु कवि के ऐसे शब्द-प्रयोग भी उद्धार के प्रासंगिक अर्थों में ही लेना चाहिए, क्योंकि सिंह कवि के गुरु ने स्वयं ही उसे विनष्ट 'पजुण्णचरिउ' के निर्वाह (णिव्वाहहि, 15, 29, 17) का आदेश दिया था, तभी सिंह ने भी उसे 'उद्धरियं' (15, 29, 29) कहकर उसके उद्धार की स्पष्ट सूचना दी है।

अब पुन: प्रश्न यह उठता है कि सिद्ध-कृत 'पजुण्णचरिउ' क्या समूल नष्ट हो गया था या आंशिक रूप में? उपलब्ध प्रतियों का अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि यद्यपि समग्र ग्रन्थ का प्रणयन तो सिद्ध कवि ने ही किया था, किन्तु किन्हीं अज्ञात प्राकृतिक उपद्रवों के कारण वह विनष्ट अथवा विगलित हो चुका था। सन्धियों के अन्त में उपलब्ध पुष्पिकाओं से विदित होता है कि प्रथम **8** सन्धियाँ तो विगलित होने पर भी पठनीय रही होंगी, क्योंकि उनमें कवि सिद्ध का नाम उपलब्ध होता है। अत: उन्हें सिद्धकृत बताया गया है।[3] किन्तु उसके बाद के अंश या तो सर्वथा नष्ट हो चुके थे अथवा गलकर अपठनीय हो चुके थे। बहुत सम्भव है कि उन अंशों में क्वचित् कदाचित् कोई-कोई चरण, पद, शब्द अथवा केवल वर्ण ही दृश्यमान रह गये हों और सिंह कवि ने गुरु के आदेश से कहीं तो उनकी धूमिल छाया या आनुमानित छाया के आधार पर अवशिष्टांशों का पल्लवन और कहीं-कहीं त्रुटित अंशों की प्रसंगवश मौलिक रचना कर उस कृति को सम्पूर्ण किया था। यदि ऐसा न होता तो सिंह कवि यह न लिखते कि—

> **"जं किं पि हीण-अहियं विउसा सोहंतु तं पि हय कव्वो।**
> **धिट्ठत्तणेण रइयं खमंतु सव्वं पि महु गुरुणो।।"**
>
> *—(15/29/34-35)*

अर्थात् 'पज्जुण्णचरिउ' काव्य में मैंने यदि धृष्टतापूर्वक हीन अथवा अधिक (अंशों की) रचना कर दी हो, तो मेरी उन समस्त त्रुटियों का विद्वज्जन (आवश्यक) संशोधन कर लें

तथा मेरे गुरुजन मेरी समस्त त्रुटियों को क्षमा करें।

9वीं सन्धि से 15वीं सन्धि तक की अन्त्य पुष्पिकाओं में सिंह कवि का ही उल्लेख मिलता है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि सिंह कवि ने उक्त अन्तिम 7 सन्धियों का पूर्ण रूप में उद्धार अथवा प्रणयन किया था।

इन प्रमाणों से यह सिद्ध हो जाता है कि पजुण्णचरिउ का मूलकर्त्ता कवि सिद्ध था और उसका उद्धारक था महाकवि सिंह।

मूल ग्रन्थकार-परिचय

जैसा कि पिछले प्रकरण में लिखा जा चुका है 'पजुण्णचरिउ' का मूल ग्रन्थकार महाकवि सिद्ध है। उसका विस्तृत परिचय प्राप्त करने के लिए पर्याप्त एवं क्रमबद्ध सामग्री का अभाव है। 'पज्जुण्णचरिउ' की आद्य-प्रशस्ति से यही विदित होता है कि उसकी माता का नाम 'पम्पाइय' तथा पिता का नाम 'देवण'[4] था। उक्त प्रशस्ति से ही विदित होता है कि महाकवि सिद्ध सरस्वती का परम भक्त था। बहुत सम्भव है कि उसे वह सरस्वती-सिद्ध हो, क्योंकि उसने लिखा है कि "एक दिन जब वह चोरों के भय से आतंकित हो कर रात्रि-जागरण कर रहा था, तभी उसे अन्तिम प्रहर में निद्रा आ गई। उसी समय स्वप्न में उसने श्वेत वस्त्र धारण किए हुए, हाथों में कमल पुष्प तथा अक्षसूत्र ग्रहण किए हुए एक मनोहारी महिला को देखा। उसने कहा "हे सिद्ध (कवि) ! अपने मन में क्या-क्या विचार किया करते हो?" तब सिद्ध कवि ने अपने मन में कम्पित होते हुए कहा 'काव्य-बुद्धि को प्राप्त करने की इच्छा करता हूँ, किन्तु लज्जित बना रहता हूँ; क्योंकि मैं तर्कशास्त्र, छन्दशास्त्र एवं लक्षणशास्त्र के ज्ञान से रहित हूँ। न तो मैं समास एवं कारक जानता हूँ और न सन्धि-सूत्र के ग्रन्थों के सारभूत-अर्थों को जानता हूँ। किसी भी काव्य को देखा तक नहीं। मुझे कभी किसी ने निघण्टु तक नहीं पढ़ाया। इसी कारण मैं चिन्तित बना रहता हूँ। किन्तु (साहित्य-शास्त्र में) बौना होने पर भी साहित्य-शास्त्र रूपी ताल-वृक्ष को पा लेने की अभिलाषा है। (साहित्य-शास्त्र में) अन्धा होने पर भी नित्य नवीन काव्य-रूपी वस्तु देखने की इच्छा किया करता हूँ। बधिर होने पर भी साहित्य-शास्त्र रूपी संगीत के सुनने की आकांक्षा किया करता हूँ। मेरी यह प्रार्थना सुनकर वह श्रुतधारिणी सरस्वती बोली "हे सिद्ध ! अपने मन से आलस्य छोड़ो। मेरे आदेशों को दृढ़तापूर्वक पालो, मैं (शीघ्र ही) तुझे मुनिवर के वेश में आकर कोई काव्य-विशेष करने को कहूँगी, तब तुम उसकी रचना करना।[5]"

तत्पश्चात् महान् तपस्वी मलधारी देव मुनि-पुंगव माधवचन्द्र के शिष्य अमयचन्द्र भट्टारक विहार करते-करते बम्हडवाडपट्टन[6] पधारे और वहीं पर उन्होंने मुझे (सिद्ध कवि को) 'पज्जुण्णचरिउ' के प्रणयन का आदेश दिया।[7] इससे यह सिद्ध है कि कवि सरस्वती का परमोपासक था। इसके अतिरिक्त 'पजुण्णचरिउ' में अष्टद्रव्यपूजा के प्रसंग में

कवि ने जल, चन्दन के पश्चात् पुष्प एवं अक्षत का क्रम रखा है।[8] इससे यह निश्चित है कि कवि भट्टारकीय-परम्परा का श्रद्धालु भक्त था।

ग्रन्थ-रचना-स्थल

कवि ने यह स्पष्ट ही लिखा है कि भट्टारक अमयचन्द (अमृतचन्द्र) ने उन्हें बम्हडवाडपट्टन में 'पजुण्णचरिउ' के प्रणयन का आदेश दिया था। इससे यह विदित होता है कि कवि सिद्ध ने उसकी रचना वहीं बैठकर की होगी। 'पजुण्णचरिउ' के अनुसार बम्हडवाडपट्टन विविध जैन-मठों, विहारों एवं रमणीक जिन-भवनों से सुशोभित था। वह सौराष्ट्र देश में स्थित था। बम्हडवाड की अवस्थिति, जलवायु तथा वहाँ के निवासियों की सुरुचि-सम्पन्नता ने उस भूमि को सम्भवत: साधना-स्थली बना दिया था। इन्हीं कारणों से आचार्य, लेखक और कवि वहाँ प्राय: आते-जाते, बने रहते होंगे। लगता है कि महाकवि सिद्ध भी उसी क्रम में भ्रमण करते-करते वहाँ आये होंगे और संयोगवश उसी समय जब उक्त अमृतचन्द्र भट्टारक भी विहार करते हुए वहाँ पधारे, तब वहाँ भेंट होते ही भट्टारक के आदेश से उन्होंने प्रस्तुत 'पजुण्णचरिउ' की रचना की थी।

मूल ग्रन्थकार — निवास-स्थल

यह कहना कठिन है कि कवि सिद्ध कहाँ के निवासी थे। कवि ने स्वयं ही उसकी कोई चर्चा नहीं की और न उसने अपने कुल-गोत्र या अन्य विषयक ऐसी कोई चर्चा ही की है कि उससे भी कुछ जानकारी मिल सके। किन्तु उनके माता-पिता के नामों की शैली देख कर यह अवश्य प्रतीत होता है कि वे दाक्षिणात्य थे तथा उनका निवास-स्थल कर्नाटक में कहीं होना चाहिए। क्योंकि सिद्ध, पम्प, देवण्ण आदि नाम कर्नाटक में ही प्राय: देखे जाते हैं। कवि ने अपनी उपाधि के रूप में मुनि, साधु, विरत अथवा तत्सम ऐसे किसी विशेषण का उल्लेख नहीं किया है। इससे यह प्रतीत होता है कि वह गृहस्थ रहा होगा और ज्ञान-पिपासा की तृप्ति अथवा वृत्ति-हेतु भ्रमण करता-करता बम्हडवाडपट्टन पहुँचा होगा। कवि ने दक्षिण के अनेक देशों एवं नगरों आदि के प्राय: उल्लेख किये हैं। इनसे भी यही प्रतिभासित होता है कि कवि दाक्षिणात्य अथवा कर्नाटक-प्रदेश का निवासी रहा होगा।

गुरु-परम्परा एवं काल

महाकवि सिद्ध ने लिखा है कि अमृतचन्द्र भट्टारक ने उसे पजुण्णचरिउ के प्रणयन का आदेश दिया। इससे यह सिद्ध है कि अमृतचन्द्र भट्टारक ही कवि के काव्य-प्रणयन में प्रेरक गुरु थे। कवि ने उन्हें मलधारीदेव, मुनिपुंगव माधवचन्द्र का शिष्य कहा है; किन्तु वे किस गण एवं गच्छ के थे? —इसके विषय में कवि ने कोई सूचना नहीं दी।

माधवचन्द्र की 'मलधारी' उपाधि से यह प्रतीत होता है कि वे मूलसंघ कुन्दकुन्दान्वय की परम्परा के आचार्य रहे होंगे[9], जिनका समय 12वीं सदी के लगभग रहा है। किन्तु इनकी निश्चित परम्परा एवं काल की जानकारी के लिए निश्चित प्रमाण उपलब्ध नहीं हैं।

मलधारी माधवचन्द्र के विषय में कवि ने लिखा है कि वे मलधारीदेव माधवचन्द्र मुनिपुंगव मानों धर्म, उपशमवृत्ति एवं इन्द्रियजय की प्रत्यक्षमूर्त्ति थे। वे क्षमागुण, इच्छा-निरोध तथा यम-नियम से समृद्ध थे।[10] इस वर्णन से विदित होता है कि माधवचन्द्र घोर तपस्वी एवं साधक थे। सम्भवत: उन्होंने किसी ग्रन्थ का प्रणयन नहीं किया, अन्यथा कवि उसके विषय में संकेत अवश्य करता। उनके शिष्य अमृतचन्द्र भट्टारक के विषय में कवि ने लिखा है कि "मलधारी देव माधवचन्द्र के शिष्य अमृतचन्द्र भट्टारक थे, जो तपरूपी तेज के दिवाकर, व्रत-तप, नियम एवं शील के रत्नाकर, तर्कशास्त्र रूपी लहरों से झंकृत, परम-श्रेष्ठ तथा व्याकरण के पाण्डित्य से अपने पद का विस्तार करने वाले थे। जिनकी इन्द्रिय-दमन रूपी वक्र-भृकुटि देखकर मदन भी आशंकित होकर प्रच्छन्न ही रहा करता था।[11] विद्वानों में श्रेष्ठ वे अमृतचन्द्र भट्टारक अपने शिष्यों के साथ-साथ नन्दन-वन से आच्छादित मठों, विहारों एवं जिन-भवनों से रमणीक बम्हडवाडपट्टन पधारे।"[12] कवि के इस वर्णन से यह तो विदित हो जाता है कि अमृतचन्द्र भट्टारक तपस्वी, साधक एवं विद्वान् थे; किन्तु उनका क्या समय था, इसका पता नहीं चलता। कवि ने बम्हडवाडपट्टन के तत्कालीन शासक भुल्लण का उल्लेख अवश्य किया है[13], जो राजा अर्णोराज, राजा बल्लाल एवं सम्राट् कुमारपाल का समकालीन था। उनका समय चूँकि वि०सं० 1199 से 1229 के मध्य सुनिश्चित है, अत: उसी आधार पर भट्टारक अमृतचन्द्र का समय भी वि०सं० की 12वीं सदी का अन्तिम चरण या 13वीं सदी का प्रारम्भ रहा होगा।

समकालीन शासक

महाकवि सिद्ध ने बल्लाल को 'शत्रुओं के सैन्य-दल को रौंद डालने वाला'[14] तथा 'अर्णोराज के क्षय के लिए काल के समान'[15] जैसे विशेषण प्रयुक्त किए हैं, जो बड़े ही महत्त्वपूर्ण हैं। कवि का संकेत है कि अर्णोराज बड़ा ही बलशाली था। उस के शौर्य-वीर्य का पता इसी से चलता है कि कुमारपाल जैसे साधन-सम्पन्न एवं बलशाली राजा को उस पर आक्रमण करने के लिए पर्याप्त गम्भीर योजना बनानी पड़ी थी। लक्षग्रामों के अधिपति अर्णोराज ने सिद्धराज जयसिंह के विश्वस्त-पात्र उदयनपुत्र बाहड़ (अथवा चाहड़) जैसे एक कुशल योद्धा एवं गजचालक, वीर-पुरुष को कुमारपाल के विरुद्ध अपने पक्ष में मिला लिया था।[16] इसके साथ-साथ उसने अन्य अनेक राजाओं को भी धमकी दे कर अथवा प्रभाव दिखा कर अपने पक्ष में मिला लिया था।[17] मालवनरेश बल्लाल के साथ भी उसने सन्धि कर ली थी और कुमारपाल के विरुद्ध धावा बोल दिया था।[18] कुमारपाल उसकी शक्ति एवं कौशल से स्वयं ही घबराया हुआ रहता था। कवि सिद्ध को अर्णोराज की ये सभी घटनायें सम्भवत: ज्ञात थीं। किन्तु ऐसे महान् कुशल, वीर, लड़ाकू एवं साधन-सम्पन्न (चाहमान) राजा अर्णोराज के लिए भी राजा बल्लाल को 'क्षय-काल के समान' बताया गया है। इससे यही ध्वनित होता है कि बल्लाल अर्णोराज से भी अधिक प्रतापी नरेश रहा होगा। यद्यपि उसने

समस्वार्थ-विशेष के कारण किसी अवसर पर अर्णोराज के साथ राजनैतिक सन्धि कर ली थी। अर्णोराज एवं बल्लाल के बीच युद्ध होने के प्रमाण नहीं मिलते। अत: प्रतीत यही होता है कि अर्णोराज बल्लाल से भयभीत रहता होगा। इसीलिए कवि ने बल्लाल को अर्णोराज के लिए 'क्षयकाल के समान' कहा है।

कवि द्वारा बल्लाल के लिए प्रयुक्त 'शत्रु-दल-सैन्य का मन्थन कर डालने वाला' विशेषण का अर्थ भी स्पष्ट है। बल्लाल की बढ़ती हुई शक्ति को देखकर आचार्य हेमचन्द्र को लिखना पड़ा कि 'अर्णोराज पर विजय प्राप्त करने के पश्चात् कुमारपाल को यह सलाह दी गयी कि वह मालवाधिपति बल्लाल को पराजित कर यशार्जन करें।'[19] इससे यह प्रतीत होता है कि कुमारपाल ने भले ही अनेक राजाओं पर विजय प्राप्त कर ली हो, किन्तु बल्लाल पर विजय प्राप्त किये बिना उसका राज्य निष्कंटक न हो पाता तथा उसे यश: प्राप्ति सम्भव न होती। बल्लाल ने कुमारपाल के आक्रमण के पूर्व उसके दो विश्वस्त सेनापतियों विजय एवं कृष्ण को फोड़कर अपने पक्ष में मिला लिया था।[20] इसप्रकार कुमारपाल बल्लाल से भी आतंकित हो गया था, कभी-कभी उसे उस पर विजय प्राप्त करने में सन्देह भी उत्पन्न हो जाता होगा, फिर भी उसने अपनी पूरी तैयारी कर उस पर आक्रमण किया और अन्तत: उसे पराजित कर दिया।[21] बडनगर-प्रशस्ति का यह उल्लेख कि "कुमारपाल ने मालवाधिपति बल्लाल का शिरच्छेद कर उसका मस्तक अपने राजप्रासाद के द्वार पर लटका दिया था",[22] यह कथन वस्तुत: बल्लाल की दुर्दम शक्ति एवं पराक्रम के विरुद्ध कुमारपाल के संचित क्रोध का ही ज्वलन्त उदाहरण है।

अर्णोराज के लिए क्षयकाल के समान तथा रिपु-सैन्य-दल का मन्थन कर देनेवाला यह बल्लाल कौन था? इसके विषय में विद्वानों ने अपने-अपने अनुमान व्यक्त किये हैं, किन्तु वे सर्वसम्मत नहीं हैं।

सुप्रसिद्ध इतिहासकार ल्यूडर्स के अनुसार अज्ञातकुलशील बल्लाल ने परमारवंशी यशोवर्मन् को पराजित कर मालवा के कुछ अंश को हड़प लिया था।[23] श्री सी०वी० वैद्य के अनुसार 'बल्लाल' शब्द एक विरुद (अपरनाम) था, जो कि उक्त यशोवर्मन् (परमार) के प्रथम पुत्र राजकुमार जयवर्मन् के साथ संयुक्त था।[24] मालवा के अभिलेखों में बल्लाल नाम के किसी भी राजा का उल्लेख नहीं है[25], जब कि उक्त जयवर्मन् को होयसल-नरेश नरसिंह-प्रथम की सहायता से कल्याणी के चौलुक्य-नरेश जगदेकमल्ल (वि०सं० 1196-1207) ने पराजित कर मालवा का राज्य हड़प लिया था।[26] उक्त चौलुक्यवंशी जगदेकमल्ल का आक्रमण मैसूर के एक शिलालेख से प्रमाणित है।[27] उसके प्रकाश में अध्ययन करने से यह प्रतीत होता है कि 'बल्लाल' यह नाम 'दाक्षिणात्य' है। अत: वह परमार-वंशी जयवर्मन् का अपरनाम नहीं हो सकता। इसमें कुछ भी तथ्य प्रतीत नहीं होता कि उत्तर-भारत का कोई राजा अपना नाम दाक्षिणात्यों के नाम-साम्य पर रखता।

हमारा अनुमान है कि महाकवि सिद्ध द्वारा उल्लिखित बल्लाल होयसल-वंशी बल्लाल राजाओं में से कोई एक बल्लाल ही रहा होगा। उक्त राजवंश में उस नामके तीन राजा हुए हैं[28], किन्तु आचार्य हेमचन्द्र ने कुमारपाल की जिस मालवपति बल्लाल के साथ युद्ध की चर्चा की है, वह होयसल-वंशी नरेश रणरंग का ज्येष्ठ पुत्र होना चाहिए, जिसका समय वि०सं० 1158-1163 है।[29] इस सन्दर्भ में आचार्य हेमचन्द्र एवं बडनगर की वह प्रशस्ति ध्यातव्य है, जिसके अनुसार कुमारपाल ने स्वयं या उसके किसी सामन्त ने युद्ध-क्षेत्र में ही बल्लाल का वध कर दिया था। अत: प्रतीत होता है कि बल्लाल वि०सं० 1161-62 में दक्षिण से साम्राज्य-विस्तार करता हुआ उत्तर-पूर्व की ओर बढ़ रहा होगा और किसी भिल्लम[30] शासक को पराजित करता हुआ वह मालवा की ओर बढ़ा होगा, तथा अवसर पाकर उसने मालवा पर आक्रमण किया होगा और सफलता प्राप्त की होगी; किन्तु मालवा पर वह बहुत समय तक टिक न सका। वह सम्भवत: सिद्धराज जयसिंह के अन्तिम काल में वहाँ का अधिपति हुआ होगा। जयसिंह की मृत्यु के बाद चाहड़ एवं कुमारपाल के उत्तराधिकार को लेकर किए गये संघर्ष-काल[31] के मध्य ही बल्लाल मालवपति बनकर वहाँ अपने स्थायी पैर जमाने के लिए सैन्य-संगठन एवं आसपास के पड़ौसी राजाओं के साथ सन्धियाँ करता रहा होगा। इसी बीच कुमारपाल अणहिलपाटन का अधिकारी बना होगा। आचार्य हेमचन्द्र ने उसके राज्य को निष्कंटक बनाने हेतु सर्वप्रथम मालवपति बल्लाल को पराजित करने की सलाह दी होगी। बल्लाल की पराजय एवं वध उसी का फल था। अल्पकालीन विदेशी नरेश होने के कारण ही उसका नाम मालवा के अभिलेखों में नहीं मिलता।

बड़नगर की प्रशस्ति का समय वि०सं० 1208 है।[32] अत: उसके पूर्व ही उस का वध हो चुका होगा। बल्लाल का पिता रणराग[33] ही 'पज्जुण्णचरिउ' का रणधोरी मानना चाहिए। बहुत सम्भव है कि बल्लाल के पिता रणराग का रण की धुरा को वहन करने के कारण 'रणधोरी' यह विरुद रहा हो?

हम ऊपर चर्चा कर आये हैं कि बल्लाल ने मालवा पर आक्रमण के पूर्व, उत्तर में किसी भिल्लम को पराजित किया था। वह 'बम्हणवाड' का शासक रहा होगा, जिसे कवि ने गुहिल-गोत्रीय क्षत्रियवंशी भुल्लण कहा है। बल्लाल ने उसे पराजित कर अपना सामन्त बनाया होगा और उसे ही कवि ने भृत्य की उपाधि प्रदान की है, जो माण्डलिक की कोटि में आता है। उक्त राजाओं में से बल्लाल का समय वि०सं० 1161-62 के आसपास निश्चित है। इसी आधार पर 'पज्जुण्णचरिउ' का मूल रचनाकाल भी वि०सं० की 12वीं सदी का अन्तिम चरण माना जा सकता है।

सन्दर्भ-सूची :—

1. तिलोयपण्णत्ती गाथा 1484।
2. पज्जुण्णचरिउ, 15/29/37।

3. इसी शोध-प्रबन्ध के मूल भाग की सन्धि 1 से 8 तक की अन्त्य पुष्पिकायें।
4. पज्जुण्णचरिउ, 1/6/1।
5. वही, 1/3/9-10।
6. वही, 1/4/6-8।
7. वही, 1/5/4।
8. वही, 15/7/1-7।
9. जैन शिलालेख संग्रह, भाग 2, भूमिका, पृ० 51-55।
10. पज्जुण्णचरिउ, 1/4/2।
11. पज्जुण्णचरिउ 1/4/3-5।
12. वही, 1/4/6-8।
13. वही, 1/4/9-10।
14. वही, 1/4/8।
15. वही, 1/4/8।
16. चालुक्य कुमारपाल, पृ० 101।
17. वही, पृ० 102।
18. वही 8-9।
19-20. द्वयाश्रय काव्य 19/97-98 रक्षोभिर्पशुभिर्दामानिर्भरौलपिभिर्वृत:, श्रीमतै: श्रीमतैश्चामुं बल्लालो दर्पतोऽभ्यगात्।। शमीवत्याभिजित्याभ्यां शैखावत्येन चैषते, कृत्यौ विभेद सामन्तौ नाम्ना विजयकृष्णकौ।।
21. वसन्त-विलास, 3/29 बल्लालमुल्लालयतिस्म खड्गं दण्डेन य: कन्दुकलीलयैव।
22. एपि० इं०, खण्ड 1, पृ० 302, पद्य 15; वही०, खण्ड 7, पृ० 202-8।
23. पोलिटिकल०, पृ० 114।
24. चौलुक्य, पृ० 109।
25. पोलिटिकल०, पृ० 114।
26. मैसूर इंस्क्रिप्शन्स, पृ० 58, 153।
27. प्राचीन भारत, पृ० 685-87।
28. भारतीय इतिहास, पृ० 341।
29. प्राचीन भारत, पृ० 681, 100।
30. प्रबन्ध चिन्तामणि — कुमारपालादि प्रबन्ध प्रकरण 126-129।
31. एपि० इं०, खंड 1, पृ० 293।
32. 'भारतीय इतिहास : एक दृष्टि' में इसका नाम 'एयराग' है, जो भ्रमात्मक है।
33. पज्जुण्णचरिउ, 15/29/9।

हड़प्पा की मोहरों पर जैनपुराण और आचरण के सन्दर्भ

—डॉ० रमेशचन्द्र जैन

सर्वप्रथम यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि हड़प्पा की लिपि अभी तक बोधगम्य स्वीकार नहीं की गई है। वर्तमान लेखक ने अपनी ओर से पूर्णत: वैज्ञानिक पद्धति का अनुकरण करते हुए वाचन के प्रयास किये हैं और अपनी अवधारणा के अनुरूप हड़प्पा लिपि की चारित्रिक विशेषतायें गिनाते हुए उसके अनुरूप विकसित की गई वाचन-पद्धति का ब्यौरा भी विभिन्न प्रकाशित एवं प्रसारित शोध-पत्रों में प्रस्तुत किया है। उन्हीं वाचन-प्रयासों में से चुने गए जैन पौराणिक व आचरण विषयक कुछ उदाहरण यहाँ उपलब्ध किये जा रहे हैं। उन उदाहरणों से संबंधित हड़प्पा की मोहरों के चिह्नों और उन पर उकेरे गये चित्रों के विवरण भी **इरावती महादेवन** के ग्रन्थ से प्रस्तुत किये जा रहे हैं।[1] इसीप्रकार यहाँ यह जोड़ देना उपयोगी होगा कि वाचन प्रयासों से उपलब्ध सभी शब्दों के अर्थ **सर मोनियर-विलियम्स** के संस्कृत अंग्रेजी शब्दकोष पर आधारित है।[2]

हड़पा के लेखन की मूल प्रवृत्तियाँ

वर्ष 1986-87 के हड़प्पा की लिपि के वाचन-प्रयासों के प्रारम्भिक दिनों में जैन-विषयों की उपस्थिति के संकेत मुझे चौंकाने वाले लगते थे। फिर हड़प्पा-लिपि के अध्ययन संबंधी अपने शोध (शोध-उपाधि के लिये) कार्य में सतत् उनकी पुष्टि होती दिखती रही।[3] भाषा और लिपि का अध्ययन ज्यों-ज्यों आगे बढ़ता गया, हड़प्पा-संस्कृति के विषय में उसके विशुद्ध भारतीय, आंचलिक होने का विश्वास पक्का होता गया। और अपने सहज सरल स्वरूप में संस्कृत की सहोदरा और प्राकृत के समान भारतीय अंचलों की धूल-माटी में सनी भाषा उजागर होती गई। उसी के साथ मोटे तौर पर लिखावट में निहित साहित्य श्रमणिक-स्वभाव का होना सुनिश्चित होता गया। विषय को सूत्ररूप में प्रस्तुत करना इस लिखावट की विशेषता है। काव्यमयी भाषा में उकेरे गये शब्द अपनी प्रकृति से ही विशुद्ध सरल स्वभाव के हैं। हर शब्द अपने मौलिक स्वरूप में, सम्पूर्ण बहुआयामी विविधता के साथ, लेखक के सन्देश को जहाँ एक ओर अग्रसर करता है, वहीं दूसरी ओर वह अपने भावात्मक इतिहास का अहसास करा देता है और इन शब्दों में पिरोया हुआ मिलता है, एक श्रमणिक समाज का वृहत्तर ताना-बाना। इस अध्ययन से एक ओर जहाँ हड़प्पा लिपि

मूलगुणों को भी संजाये हुए हैं। इससे वाचन-प्रयासों का मार्ग प्रशस्त होता है एवं वाचन-प्रयास के लिये प्रामाणिकता का आधार भी तैयार होता है।[4]

हड़प्पा संस्कृति : मानव सभ्यता का प्राचीनतम झूलाघर

इस बीच हड़प्पा के समान प्राचीन संस्कृति में जैन-पौराणिक-सन्दर्भों की समीक्षा करने के लिये तैयार होने में, कुछ पुस्तकों के अध्ययन ने मेरी बड़ी मदद की। इनमें से दो लेखक और उनका साहित्य विशेष उल्लेखनीय है। प्रथम स्थान पर 19वीं सदी के मध्य में **ई० पोकॉक** नामक अंग्रेज विद्वान् द्वारा लिखा गया ग्रंथ है 'भारत की यूनान में उपस्थिति' (इण्डिया इन ग्रीस)[5]। इस ग्रंथ में वह यूनान देश के प्राचीन इतिहास की विसंगतियों का अध्ययन प्रस्तुत करते हुए सविस्तार बताता है कि प्रारम्भिक दौर में यूनान के मूल-निवासी अत्यंत दीन-हीन अवस्था में निवास करते थे। उन्हें भारत से विस्थापित होकर आये श्रमणिक समुदाय के लोगों ने न सिर्फ सभ्यता का पाठ पढ़ाया, बल्कि उनको धार्मिक, पौराणिक और भाषायी पहचान भी प्रदान की। इसी श्रेणी के दूसरे विद्वान् हैं प्रसिद्ध ईसाई पादरी **फादर हेरास**। आप हड़प्पा की लिपि के प्रारम्भि अध्येताओं में से एक हैं। आपने भारत के साथ-साथ यूरोप और मध्य एशिया के विभिन्न देशों के प्राचीन इतिहास और वहाँ प्रचलित भाषाओं का गहन अध्ययन किया। और उस आधार पर हड़प्पा के लेखन और वहाँ प्रचलित भाषाओं का गहन अध्ययन किया। और उस आधार पर हड़प्पा के लेखन को समझने का प्रयास किया। अपने ग्रंथ 'स्टडीज इन प्रोटा-इण्डो-मैडीटरेनियम कल्चर',[6] में आपने प्राचीन इराक देश के सुमेरियन नामक सांस्कृतिक स्तर पर 'अन' नामक देवता का जिक्र किया है। जिसके विषय में वे विस्तार से वर्णन करते हैं। और वहाँ की खुदाई से प्राप्त उसकी कांस्य-प्रतिमाओं के फोटोग्राफ प्रस्तुत करते हुए उसकी समानता हड़प्पा की संस्कृति से उपलब्ध मूर्ति-शिल्पों और बाद के भारतीय ऐतिहासिक व पौराणिक व्यक्तियों में देखते हैं। सुमेरी 'अन' के खोफजे नामक स्थान से उत्खनित मूर्तियों की कुछ विशेषतायें उन्होंने गिनाई हैं, वे उदाहरणार्थ प्रस्तुत हैं—

अ. मूर्ति सदा नग्न अवस्था में प्रस्तुत की गई है।

ब. बहुधा मूर्ति के कन्धों पर बालों की दो लटें प्रदर्शित की जाती हैं, जबकि उसके सिर के शेष हिस्से में बालों का अभाव दर्शाया गया है।

स. मूर्ति के सिर पर चारों ओर चार फलकों वाला त्रिशूल दर्शाया जाता है।

द. ताँबे की इन मूर्तियों में आँखें अलग से भरकर बनाई जाती हैं।

ह. मूर्ति की कमर के चारों ओर रस्सी या पट्टीनुमा कोई चीज लिपटी हुई दिखाई जाती है।

फ. 'अन' की मूर्तियों के साथ उसी रूपाकार की, दो थोड़ी छोटी मूर्तियाँ भी मिलती हैं, इनमें से कभी-कभी एक नारी मूर्ति भी होती है। 'अन' की इन मूर्तियों में, नग्नता, कन्धों तक फैली बालों की लटें, सिर के ऊपर स्थापित त्रिरत्न या एक ही समय में

चारों ओर देख पाने की क्षमता के प्रतीक की उपस्थिति और भारतीय जैन-मूर्तियों की परम्परा के समान मात्र मूर्ति की आंखों को भरकर (इनले की पद्धति से) बनाने की परिपाटी का अनुकरण इत्यादि विशेषतायें उसे सीधे हड़प्पा संस्कृति के माध्यम से जैनों की ऋषभदेव की मूर्ति-परम्परा से जोड़ती हैं। यहा. यह बताना समीचीन होगा कि 'अन' नाम 'अंक' शब्द या फिर इण्डो योरोपियन शब्द 'वन' (अंग्रेजी) का पूर्वज रहा होगा, जो ऋषभदेव के पर्यायवाची 'आदि' का समानधर्मा है। इस पर फादर हेरास का यह कथन महत्त्वपूर्ण हो जाता है कि सांस्कृतिक प्रवाह की धारा मार्शल के उस वक्तव्य से भी होती है, जो हड़प्पा संस्कृति की खोज को स्थापित करने के तुरन्त बाद 1923-24 में उन्होंने दिया था।[7] अपने समय के श्रेष्ठ के पुरातत्त्वविदों की अनुशंसाओं को ध्यान में रखते हुए उसमें उन्होंने संभावना व्यक्त की थी कि भारत मानव-संस्कृति का प्रथम झूलाघर रहा होगा।

हड़प्पा लिपि के अध्ययन से जुड़ी कुछ विसंगतियाँ

अत: हड़प्पा-संस्कृति की लिपि के अध्ययन से उभरते जैनों के आचरण-संबंधी और पौराणिक स्वरों और उस समय की समकालीन संस्कृतियों के विकास पर उनकी गहरी छाप के रहते, मेरा हड़प्पा की मोहरों पर उत्कीर्ण अभिलेखों का अध्ययन आगे बढ़ता रहा। मगर हड़प्पा की लिपि विश्व के लिपिशास्त्रियों के लिये एक अभेद्य दीवार बनी हुई है। इतना ही नहीं, बलिक वैश्विक स्तर पर विद्वानों के बीच एक प्रकार का दुराग्रह विकसित होता रहा है। संभवत: इसके पीछे कुछ राजनैतिक कारण भी रहे हैं। सामान्यत: विदेशी पाश्चात्य विद्वान् जहाँ एक ओर इस लिपि में व्यक्त भाषा को द्रविड़ सिद्ध करने पर तुले हुए हैं और उन्हीं के इस प्रवाह के रहते कुछ तमिलभाषी विद्वान् हड़प्पा लिपि के चिह्नों को मात्र प्रतीक चिह्न (इडियोग्राफ्स) समझकर मोहरों पर तमिल भाषा उकेरी गई होने का आग्रह करते हैं। इसके विपरीत भारतीय विद्वान् जाने अनजाने और सम्भवत: भारतीय उपमहाद्वीप की भौगोलिक स्थिति और उसके सांस्कृतिक इतिहास को दृष्टि में रखते हुए, हड़प्पा की लिखावट में संस्कृत-मूलक भाषा पर जोर दे रहे हैं। ऐसी परिस्थिति में किसी भी अध्येता के लिये अपने विचारों को प्रभावी रूप से प्रस्तुत करने में कठिनाई होती है और अगर वह अपनी बात कहे भी, तो विद्वत्-समाज सहमति देने में कठिनाई का अनुभव करता है। इस विषय की सबसे बड़ी बाधा ऐसे बाहरी प्रमाण के नितांत अभाव की है, जो लिपि के वाचन के किसी प्रयास के लिये निर्णायक हो सके। कई प्राचीन लिपियों के वाचन-प्रयासों के समय द्विभाषिक अभिलेख बड़े सहायक सिद्ध हुए थे; मगर हड़प्पा के सन्दर्भ में ऐसा कोई द्विभाषिक अभिलेख प्राप्त नहीं हुआ है।

मोहरों पर उकेरे गये चित्रों का महत्त्व

इन विसंगतियों और कठिनाइयों को ध्यान में रखते हुए, यहाँ वाचन-प्रयास करते हुए

अभिलेखों में उपलब्ध आंतरिक प्रमाणों पर ध्यान केन्द्रित किया गया है। और सौभाग्य से हड़प्पा-लिपि में ऐसे आंतरिक वाचन-प्रमाणों की कमी नहीं है। इनमें सबसे उल्लेखनीय, मोहरों पर उकेरे गये विभिन्न चित्र हैं, जो हड़प्पा के चिह्नों के साथ बड़ी कुशलता के साथ उकेरे गये हैं। इन्हें इरावती महादेवन ने 'फिल्ड सिम्बल' नाम दिया है।[8] महादेवन ने ऐसे लगभग एक सौ अलग-अलग चित्रों (फिल्ड सिम्बल्स) की पहचान की है। अनेक बार मोहरों का लेखक इन चित्रों से लेख की चित्रात्मक अभिव्यक्ति के रूप में प्रस्तुत करता प्रतीत होता है और वाचन-प्रयास को प्रामाणिकता भी प्रदान करती हुई दिखती है। इन्हीं चित्रों के कुछ उदाहरणों में यदि जैन पौराणिक कथायें दर्शाई गई प्रतीत होती हैं, तो कुछ चित्र ऐसे भी हैं जिनमें जैनमुनियों के समान मानवाकृतियाँ, सौम्यभाव लिये कायोत्सर्ग मुद्रा में उत्कीर्णित हैं।[9]

हड़प्पा की लिपि में उकेरे गये जैन आचरण और पुराणों के सन्दर्भ :

जैसाकि पहले कहा गया, प्रारम्भ से हड़प्पा की मोहरों पर जैन विषय-वस्तु का अहसास होने लगा था। इस सन्दर्भ में संभवत: सबसे पहला शोधपत्र पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी के तत्त्वावधान में 'सारनाथ' में आयोजित गोष्ठी में जनवरी 1988 में प्रस्तुत किया गया था। उस समय उस तुतलाती भाषा को विद्वानों के सम्मुख रखना एक कठिन कार्य था। इसी विषय को पुन: 'जैन सब्जेक्ट मैटर इन द हड़प्पन स्क्रिप्ट' शीर्षक से ऋषभदेव प्रतिष्ठान द्वारा आयोजित संगोष्ठी में राष्ट्रीय संग्रहालय, देहली में दिनांक 30 अप्रैल, 1 मई 1988 को प्रस्तुत किया गया। अब स्थिति कुछ बेहतर होने लगी थी और कुछ चुने हुए उदाहरण लेते हुए शोधपत्र में हड़प्पा में उकेरे गये जैन सन्दर्भों को प्रस्तुत किया गया था। उस लिपि की प्रकृति की सीमित पहचान के रहते, सन्दर्भों को पूर्ण स्पष्टता के साथ प्रस्तुत करना कष्ट साध्य था। फिर भी एक प्रयास किया गया। इस शोधपत्र को बाद में 'ऋषभ-सौरभ' पत्रिका के वर्ष 1992 के अंक में प्रकाशित भी किया गया। मगर दुर्भाग्य से उस शोधपत्र में सम्मिलित वाचन-प्रयासों के उदाहरण प्रकाशित पत्र में सम्मिलित नहीं किये गये।[10] उसी क्रम में जैन-विषयवस्तु के वाचन के कुछ उदाहरण अन्यान्य शोधपत्रों में स्थान पाते रहे, उनमें से कुछ शोधपत्र प्रकाशित भी हुए हैं। ऐसे ही कुछ चुने हुए वाचन-प्रयासों के उदाहरण यहाँ प्रस्तुत किये जा रहे हैं।

1. **अपरिग्रह[11], सील क्रमांक 4318, 210001 प य भर (ण)**

जो परिग्रहों को नियंत्रित करता है (210001) व्यक्ति सिर पर त्रिरत्न धारण किये हुए है और दो स्तम्भों के मध्यम में स्थित है।

सील पर उकेरा गया चित्र विषय का चित्रात्मक अलंकरण प्रतीत होता है। यहाँ व्यक्ति सौम्यभाव लिये नग्नावस्था में कार्यात्सर्ग मुद्रा में दिखाया गया है। उकेरे गये चित्र का सम्पूर्ण वातावरण जैनों के समान श्रमणिक प्रतीत होता है।

2. **निग्रंथ[12], सील क्रमांक 4307, 210001 य रह गण्ड/ग्रंथि**

जिसने बंधन त्याग दिये हैं। (25090) उपरोक्त के समान चित्र में व्यक्ति को नग्न अवस्था में कायोत्सर्ग मुद्रा में दिखाया गया है, जो पत्तों युक्त गोलाकार द्वार में दिखाया गया है।

पुन: चित्र में जैनों के समान श्रमण-परम्परा के एक मुनि की चित्रात्मक अभिव्यक्ति प्रतीत होती है।

3. **योगाभ्यास[13], सील क्रमांक 2222, 104701 य शासनकर्ता**

जो (स्वयं पर) शासन करता है।

सींग धारण किये एक व्यक्ति तख्त जैसे आसन पर विराजमान है। यह चित्र स्पष्ट रूप से योगसाधना में रत एक व्यक्ति का है, जिसे योगाभ्यास के रूप में स्वयं पर नियंत्रण करते हुए दर्शाया गया है।

4. **स्वयं में लीन, सील क्रमांक 2410, 100401 य व्रात्य/धर्म स्वसंग**

जो व्रात्य या धर्मपुरुष स्वयं के साथ अर्थात् अकेला है। इसे सम्भवत: ऐसे भी कहा जा सकता है — जिसने सब बंधनों को त्याग दिया है और नितांत अकेला हो गया है।

यह चित्र छोटे सींग वाले एक सांड का है। हड़प्पा के लिपि के वाचन-प्रयास का कार्य आगे बढ़ने से अनुभव होता है कि सम्भवत: छोटे सींग वाले सांड का यह चित्र मोहरों पर ऋषभ के प्रतीक के रूप में अंकित किया गया है। उसी को थोड़े व्यापक सन्दर्भ में शायद एक सींग वाले सांड अर्थात् यूनीकार्न के रूप में उकेरा जाता है। जब इसके साथ एक पौराणिक छत्र अर्थात् अक्ष का भी अंकन किया जाता है।

5. **जड़ भरत[14], सील क्रमांक 4303, 216001 सत/सुत ज (द्व) व्रत**

सुत य द्व वृत अथवा सुत जड़ भरत (ऋषभ) पुत्र जिसके दो (जन्म) वृत (यहाँ चित्रित हैं) अथवा (ऋषभ) पुत्र (ही) जड़ भरत (है)।

एक पक्की मिट्टी की पट्टिका के दोनों और दो अलग-अलग मोहरों के छापे अंकित हैं। हड़प्पा के प्रतीक चिह्नों के साथ एक दो मंजिला रूपाकार और एक त्रिशूलनुमा यष्टि के साथ स्थित एक छोटे सींग वाले सांड के बीच में एक मानवाकृति का चित्र है।

यह पूरा फलक हड़प्पा की लेखन-पद्धति का दुर्लभ प्रमाण है, जिसमें लेखन और चित्रण की सीमायें निर्धारित नहीं की गई हैं। लेखन की समग्रता में चित्रण, प्रतीक-चिह्न और अक्षर सब एक साथ हैं। सम्पूर्ण चित्र सम्भवत: ऋषभ के पुत्र भरत, जिसे 'जड़ भरत' के नाम से भी जाना जाता है। उसका एक जीवनकथा-अलंकरण है।[15] मजेदार तथ्य यह है कि जिसे महादेवन बीच की मानवाकृति मान रहे हैं, वह भी अक्षर-प्रतीक है 'सुत' अर्थात् 'पुत्र'। ऋषभ (छोटे सींग वाला सांड) पुत्र और पालकी में बैठे सौवीरराज के बीच संवाद का दृश्य चित्रित किया गया है।

बिना प्रतीक-चिह्नों वाला फलक, दाँयी ओर से प्रारम्भ करके एक शेर, एक बकरी, एक आसन पर विराजमान एक व्यक्ति और पेड़ की मचान पर बैठा व्यक्ति नीचे शेर के साथ।

यह चित्र पुन: जड़ भरत की एक और जन्मकथा का दृश्य है। **इसमें महादेवन ने जिसे बकरी समझा है, वह वास्तव में मृग-शावक है।** कथा के अनुसाार, सिंह के भय से एक गर्भिणी मृगी, अपने गर्भ के शिशु को त्याग, जल में गिरकर मर जाती है। और उस नन्हें मृग शावक को भरत मुनि पाल लेते हैं। मगर उसके मोह में पड़ने के कारण उन्हें पुन: एक ब्राह्मण के कुल में जन्म लेना पड़ता है। उसी जन्म की एक कथा को दूसरे फलक पर चित्रित किया गया है।

6. ऋषभदेव को समर्पित सत-आसन[16], मोहर क्रमांक 2430, 107811 परमात्म या प्रमातृ या परम नत/व्रात्य

सत्य धर्म/धारणा के प्रतिपादक अथवा परम (महामहिम) नत (हैं)।

मोहर पर दाँयी ओर, क्रम से उकेरे गये हैं—

अ. माथे पर सींग युक्त, पीपल की डालों के बीच एक खड़ी मानवाकृति।

ब. एक कम ऊँचा आसन जिस पर कुछ रखा प्रतीत होता है।

स. माथे पर सींग युक्त एक नत मस्तक बैठी हुई मानवाकृति।

द. एक मेढ़ा

य. नीचे की ओर पंक्तिबद्ध, पोशाक पहने सात लोग।

21 सत/सुत आसन, सत्य का आसन/सिंहासन/सोम का आसन। 33 भृ धारण करना।

यहाँ पहली पंक्ति नत मस्तक व्यक्तित्व का वर्णन हो सकता है, मगर एक सम्भावना नतमस्तक व्यक्ति द्वारा पीपल की डाली में खड़े व्यक्ति को सम्बोधन भी हो सकता है— **परमात्मा/परम सत्य के उद्घोषक? परम-व्रात्य ! सत्य/सोम/राज्य के सिंहासन का आरोहण करें।**

जैन-पुराण में वर्णन है कि सन्यास धारण करने के बाद ऋषभदेव छ: माह तक कायोत्सर्ग मुद्रा में खड़े रहे। फिर उसके बाद छ: माह तक प्रतिमायोग में भोजन या आहार-प्राप्ति के निमित्त घूमते रहे। इस बीच तीर्थंकर परम्परा से अनभिज्ञ सब राजे, महाराजे (भरत चक्रवर्ती सहित) उन्हें तरह-तरह के उपहार व राजसिंहासन इत्यादि अर्पित करते थे।[17] इसीप्रकार 'अथर्ववेद' के 'व्रात्य सूक्त' में वर्णन आता है कि व्रात्य (=ऋषभदेव/जैनमुनि/ वातरशन मुनि?) को एक वर्ष तक खड़े पाकर देव उनसे खड़े रहने का कारण पूछते हैं और जवाब में व्रात्य उन्हें आसन देने को कहते हैं, जिसे 'देव' उपलब्ध कराते हैं।[18]

दोनों ही कथाओं में, एक वर्ष की अवधि, के उपरान्त 'आसन' प्रदान करना उल्लेखित है। इसमें यदि अथर्ववेद की कथा के 'देव' को 'शासक' स्वीकार कर लिया जाये, तो मोहर पर के चित्रांकन को समझना बहुत हद तक सरल हो जाता है। इससे, एक और सम्भावित कथा[19] के स्वीकार की सम्भावनायें भी बढ़ जाती हैं, जिसमें सम्भवत: चक्रवर्ती

भरत अपने छोटे भाई बाहुबली की असफल तपस्या का कारण उसके मन में फँसी 'पराये राज्य' में खड़े होने के क्षोभ की भावना को जानकर उसकी मुक्ति के लिये राज्य-सिंहासन अर्पण करता है। सम्भव है कि भारत की अन्यान्य पौराणिक कथायें, और हो सकता है कई विदेशी कथायें, भी किसी एक ही मूल सत्य पर आधारित हों।

7. **सोमत्व[20], मोहर क्रमांक 2420, 104811 य सोमामृत/य सोमामरण/सोमामर**

सोम जो अमर है अथवा सोम में जो अमर है। सिर पर सींग धारण किये हुए तीन दृश्यमान चेहरे युक्त आसन पर विराजमान व्यक्ति जिसे पाँच जीवों ने घेरा हुआ है। दायीं ओर से पशुओं का क्रम में गेंड़ा, भैंसा, मृग, शेर और हाथी। मृग की उपस्थिति के विषय में उल्लेखनीय है कि 'वह' युगल रूप में आसन के नीचे, विपरीत दिशाओं में गर्दन घुमाये हुए दर्शाये गये हैं। मानों वे उपरोक्त व्यक्तित्व के वाहन के प्रतीक हों।

यहाँ सोम, चन्द्र के माध्यम से शिव के व्यक्तित्व से जुड़ता है। और शिव अपनी मूल अवधारणा में ऋषभ के पर्यायवाची प्रतीत होते हैं। इससे क्या हम निष्पत्ति निकाल सकते हैं कि सोमत्व ही शिवत्व या केवलज्ञान अथवा अमृत है? इसीप्रकार यदि ऋषभदेव को, ऐतिहासिक अवधारणा से ऊपर उठकर पहचानने का प्रयास करें, तो क्या वे दिन रात की तरह दो विपरीत मगर समान कालखण्डों के, सूर्योदय अथवा दूज के चांद के समान मिलन बिन्दु का मानवीकरण हैं?

8. मेधिवृत में जुते हुए पशुओं, मुक्त होओ[21], (धौलावीरा, कच्छ, गुजरात की गढ़ी के उत्तरी द्वार पर अंकित धर्म-संदेश) **मेधिवृत जग प्रवृत पशु भव भ्रम् वृत**, पशुवत होकर मानव समाज (जग) मेधिवृत में जुतकर चक्कर लगाता है।

यह संदेश हड़प्पा के दस चिह्नों के माध्यम से उपरोक्त द्वार के शीर्ष पर, 'मोजाइक' पद्धति से सम्भवतः काष्ठ-फलक पर बनाया गया था, जो पुरातत्त्ववेत्ता डॉ० आर० बिष्ट को द्वार मार्ग के पास वाले बरामदे में उलटा पड़ा मिला है। जैसा कि वाचन-प्रयास से उपलब्ध शब्दों से ज्ञात होता है, धर्म-संदेश का यह मात्र आधा भाग है, दूसरा पूर्ण करनेवाला शेष भाग, द्वार मार्ग के दूसरी ओर अंकित रहा होगा, या फिर इस फलक के नीचे एक दूसरी पंक्ति भी लिखी गई होगी जो अब नष्ट हो गई है।

संदर्भ-सूची

1. 'द इण्डस स्क्रिप्ट', इरावती महादेवन, भारतीय पुरातात्त्विक सर्वेक्षण निदेशालय, नई दिल्ली, 1997.
2. 'संस्कृत इंग्लिश डिक्शनरी', सर मोनियर विलियम्स, मुंशीराम मनोहरलाल पब्लिशर्स प्रा०लि०, नई दिल्ली, तृतीय पुनरावृत्ति, 1998.
3. 'जैन सब्जैक्ट मैटर ऑन द हड़प्पन सील्स', डॉ० रमेश जैन, ऋषभ सौरभ, ऋषभदेव प्रतिष्ठान, नई दिल्ली, 1992, पृ० 113-116.

4. 'टेस्ट डिसाईफरमेंट ऑफ द हड़प्पन इंस्क्रिपशन्स', डॉ० रमेश जैन (शोधपत्र भारतीय पुराभिलेखन परिषद् के 26-39 अप्रैल 2000 को इरोड़, तमिलनाडु में सम्पन्न वार्षिक अधिवेशन में प्रस्तुत किया गया)।
5. 'इण्डिया इन ग्रीस', ई० पोकाका, ओरिएण्टल पब्लिशर्स, देहली, भारत, वर्ष 1972 (पुरावृत्ति)।
6. 'स्टडीज इन प्रोटो-इण्डो-मैडीटरेनियन कल्चर', फादर ह, हेरास, इण्डियन हिस्टॉरिकल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, मुम्बई, 1953, पृ० 170-181।
7. 'एनुअल रिपोर्ट, आर्कोलोजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया', 1923-24, सर जॉन मार्शल, पृ० 50।
8. इरावती महादेवन, 1977।
9. 'हड़प्पन्स रोट इन वैदिक लैंगुएज', डॉ० रमेश जैन, पुराभिलेख पत्रिका, अंक 24, 1998, पृ० 46-50.
10. रमेश जैन, 1992.
11. सन्दर्भ 9 की तरह।
12. सन्दर्भ 9 की तरह।
13. सन्दर्भ 9 की तरह।
14. सन्दर्भ 9 की तरह।
15. 'ए क्लासिकल डिक्शनरी ऑफ इण्डिया', जॉन गैरेट, एटलान्टिक पब्लिशर्स एण्ड डिस्ट्रिब्यूटर्स, नई दिल्ली (पुनर्मुद्रण), 1989.
16. रमेश जैन, 2000.
17. 'पुण्यास्रव कथाकोषम्', श्री रामचन्द, जैन संस्कृति संरक्षक संघ, सोलापुर, 1987, पृ० 269.
18. 'जिन ऋषभ तथा श्रमण परम्परा का वैदिक मूल', डॉ० मुनीशचन्द्र जोशी, ऋषभ सौरभ, 1992, पृ० 66-67.
19. श्री रामचन्द्र, 1978, पृ० 276.
20. सन्दर्भ 12 की तरह।
21. आवरण-कथा, ओजस्विनी, वर्ष 5, अंक 6, पृ० 17।

सारस्वत लिपि ब्राह्मी

"वर्णाश्चत्वार एते हि येषां ब्राह्मी सरस्वती।
विहिता ब्रह्मणा पूर्वं लोभादज्ञानतां गता:।।"

—(*महाभारत, शांतिपर्व, मोक्षधर्म, 12/18/15, पूना संस्करण, 1954, पृ० 1025*)

अर्थ :— चारों वर्णों में सारस्वत लिपि 'ब्राह्मी' के प्रयोग का विधान स्वयं ब्रह्मा के द्वारा किया गया था, जोकि कलिकाल के प्रभाव से तथा भौतिकता के आकर्षण के कारण अब क्रमश: अज्ञानता को प्राप्त हो रही है, अर्थात् अब इसका प्रचलन घट रहा है। ⁂

'यति-प्रतिक्रमण' की विषयगत समीक्षा

—श्रीमती रंजना जैन

प्राकृत-वाङ्मय में अभी तक जितनी भी कृतियाँ प्राप्त होती हैं, उनमें 'पडिक्कमणसुत्त' को परम्परागत पद्धति से प्राचीनतम माना जाता है। यह भी कहा जाता है कि प्रतिक्रमण की परम्परा मात्र प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव एवं अंतिम तीर्थंकर वर्द्धमान महावीर के काल में ही विशेषत: रही है। 'प्रतिक्रमण' यतियों एवं श्रावकों —दोनों को अनिवार्य माना गया है, अत: इसके 'यति-प्रतिक्रमण' एवं 'श्रावक-प्रतिक्रमण' —ऐसे दो मूलभेद मिलते हैं। इनमें से 'यति-प्रतिक्रमण' की विषयगत समीक्षा इस शोधपूर्ण आलेख में विदुषी लेखिका ने श्रमपूर्वक प्रस्तुत की है, जो अवश्य ही पठनीय भी है और मननीय भी। —**सम्पादक**

वर्तमान में प्रचलित प्रतिक्रमण के कर्त्ता

वर्तमान में प्रचलित श्रावक-प्रतिक्रमण एवं यति-प्रतिक्रमण के कर्त्ता 24वें तीर्थंकर भगवान् महावीर के प्रधान शिष्य 'इन्द्रभूति गौतम' हैं, जिन्हें गौतम गणधर के नाम से भी जाना जाता है। इनका काल ईसापूर्व छठवीं शताब्दी है।

इन्द्रभूति का जन्म ईस्वी पूर्व 607 में हुआ था। इनके पिता का नाम— 'वसुभूति' तथा माता का नाम 'पृथ्वीदेवी' था। इनके पिता अर्थसंपन्न विद्वान् एवं अपने गाँव के मुखिया थे। इनकी जाति ब्राह्मण एवं गोत्र गौतम था। इन्द्रभूति व्याकरण, काव्य, कोष, छन्द, अलंकार, ज्योतिष, सामुद्रिक, वैद्यक और वेद वेदांगादि चौदह विधाओं में पारंगत थे।

सामान्यत: तो संपूर्ण द्वादशांग गौतम गणधर के द्वारा वर्णित कहा जाता है, लेकिन इनकी व्यक्तिगत रचना मात्र एक ही मानी गयी है—'पडिक्कमणसुत्त'। जिस दिन भगवान् महावीर को निर्वाण हुआ, उसी दिन गौतम गणधर को केवलज्ञान की प्राप्ति हुई। उन्होंने केवली की पर्याय में बारह वर्षों तक विविध देशों में विहार कर राजगृह के 'विपुलगिरि' से निर्वाण-प्राप्त किया।

'प्रतिक्रमणसूत्र' नामक ग्रंथ की भाषा **'शौरसेनी प्राकृत'** है, तथा यह गद्य-पद्य मिश्रित शैली में निबद्ध है। यह श्रमण-परम्परा के नैतिक एवं आध्यात्मिक गुणों तथा अहिंसक आचारशैली का प्राचीनतम निदर्शन है। जिसका सांस्कृतिक एवं समाजशास्त्रीय

दृष्टियों से भी अधिक महत्त्व है। संपूर्ण भारतीय संस्कृति की मूलदृष्टि इसमें परिलक्षित होती है, जो व्यक्ति को भोग से विराग की ओर, संग्रह से त्याग की ओर तथा प्रमाद से सजग ज्ञान की ओर अग्रसरित करने का मूल उद्देश्य लेकर प्रवर्तित है तथा 'मोक्ष' नामक परम पुरुषार्थ की सिद्धि जिसका परम लक्ष्य है।

द्वादशांगी द्रव्यश्रुत के बारहवें अंग के अवान्तर भेदों चौदह पूर्वों में चतुर्थ 'अंगबाह्य' का नाम 'प्रतिक्रमण' कहा गया है, किन्तु यहाँ विवक्षित 'प्रतिक्रमण' कुछ भिन्न अर्थ में है। व्यक्ति को अपनी जीवनयात्रा में कषायवश पद-पद पर अंतरंग व बाह्य दोष लगा करते हैं, जिनका शोधन एक श्रेयोमार्गी के लिये आवश्यक है। भूतकाल में जो दोष लगे हैं, उनके शोधनार्थ प्रायश्चित्त, पश्चात्ताप एवं गुरु के समक्ष अपनी निंदा-गर्हा करना 'प्रतिक्रमण' कहलाता है।

प्रतिक्रमण की व्युत्पत्ति

"प्रतिक्रम्यते प्रमादकृत-दैवसिकादिदोषो निराक्रियते अनेनेति प्रतिक्रमणं" — प्रमाद के द्वारा किये दोषों का जिसके द्वारा निराकरण किया जाता है, उसे 'प्रतिक्रमण' कहते हैं।

परिभाषा

"गुरूणमालोचणाए विना ससंवेण-णिव्वेयस्स 'पुणो ण करेमि' त्ति जमवराहादो णियत्तणं पडिक्कमणं णाम पायच्छित्तं।"

अर्थ:— गुरुओं के सामने आलोचना किये बिना 'संवेग' और 'निर्वेद' से युक्त साधु का "फिर कभी ऐसा न करूँगा" —यह कहकर अपने अपराध से निवृत्त होना 'प्रतिक्रमण' नाम का प्रायश्चित्त है।

आचार्य अकलंकदेव ने इसे संक्षेप में निम्नानुसार कहा है—**"अतीतदोषनिवर्तनं प्रतिक्रमणं"** अर्थात् अतीतकाल में किये गये दोषों की निवृत्ति करना ही 'प्रतिक्रमण' है।

आचार्य कुन्दकुन्द ने 'प्रतिक्रमण' को वचनमय बताया है तथा इसे 'स्वाध्याय' भी कहा है।

'कृति-कर्म' में जो छह आवश्यक क्रियायें कहीं गई हैं— सामायिक, वंदना, स्तुति, स्वाध्याय, प्रत्याख्यान एवं कायोत्सर्ग; इनमें 'कायोत्सर्ग' को 'प्रतिक्रमण' भी कहा गया है। तथा इसका अर्थ कुछ विशिष्ट भक्तियों के पादों का विशेष क्रम से उच्चारण करना माना गया है।

भक्तियों के पाठ

भक्तियों के कुल 13 पाठ उपलब्ध होते हैं—

1. सिद्ध भक्ति, 2. श्रुत भक्ति, 3. चारित्र भक्ति, 4. योग भक्ति, 5. आचार्य भक्ति, 6. निर्वाण भक्ति, 7. नन्दीश्वर भक्ति, 8. वीर भक्ति, 9. चतुर्विंशति तीर्थंकर भक्ति,

10. शांति भक्ति; 11. चैत्य भक्ति, 12. पंचमहागुरु भक्ति, 13. समाधि भक्ति।

इनके अतिरिक्त ईर्यापथशुद्धि, सामायिक दण्डक और थोस्सामि दण्डक —ये तीन पाठ और भी हैं। दैवसिक अथवा नैमित्तिक सर्वक्रियाओं में इन्हीं भक्तियों का आगे-पीछे करके पाठ किया जाता है।

प्रतिक्रमण की परम्परा कब और क्यों?

'मूलाराधना' के अनुसार प्रथम और अंतिम तीर्थंकरों के शिष्य चंचल चित्तवाले एवं मूढ़बुद्धि थे। अत: उनकी चारित्र-शुद्धि के लिये प्रतिक्रमण की अनिवार्यता की गई। चूँकि प्रथम तीर्थंकर के काल में श्रावक और मुनिधर्म की विशेष प्ररूपणा नहीं थी। अत: उनके शिष्य धर्माचरण के विशेष ज्ञान से रहित होने के कारण 'ऋजु' अर्थात् सरल मनवाले होते हुये भी 'जड़' अर्थात् अज्ञानी थे; इसीकारण उनके काल में श्रावकों एवं श्रमणों को प्रतिदिन प्रतिक्रमण करना अनिवार्य था। जबकि अंतिम तीर्थंकर भगवान् महावीर के काल में कलिकाल का प्रभाव स्पष्ट होने लगा था, जिसके फलस्वरूप शिष्यों की बुद्धि में कुटिलता एवं जड़ता दोनों आने लगी थी। इसकारण उनसे धर्माचरण के पालन में अनेक प्रकार के दोष लगने लगे थे। इसलिये उन्हें भी प्रतिक्रमण करना आवश्यक कहा गया। शेष 22 तीर्थंकरों के काल में शिष्यों की प्रवृत्ति 'ऋजुविज्ञ' अर्थात् सरल परिणामी एवं आचरण विधि के जानकार होने से उनके शिष्यों को आचरणगत दोष न लगने के कारण प्रतिक्रमण की अनिवार्यता नहीं थी। —यह तथ्य 'मूल-आराधना' में स्पष्टरूप से व्यक्त किया गया है।

प्रतिक्रमण के प्रसंग

'भावपाहुड' की टीका के अनुसार निम्नलिखित प्रसंगों में प्रतिक्रमण किया जाता है— छह इन्द्रिय तथा वचनादिक का दुष्प्रयोग आचार्यादि के अपना हाथ-पाँव आदि टकरा जाना, व्रत-समिति में छोटे-छोटे दोष लग जाना, पैशुन्य तथा कलह आदि करना, वैयावृत्त्य तथा स्वाध्यायादि में प्रमाद करना, गोचरी को जाते हुए लिंगोत्थान हो जाना, तथा अन्य के साथ संक्लेश करनेवाली क्रियाओं के होने पर प्रतिक्रमण करना चाहिये। यह प्रायश्चित्त प्रात:काल और सायंकाल तथा भोजनादि के समय होता है।

प्रतिक्रमण की विधि

"कादूण य किदिकम्मं पडिलेहिय अंजलीकरण सुद्धो।
आलोचिज्ज सुविहिदो गौरव-माणं मोत्तूणं।।"

अर्थ:— विनयकर्म करके शरीर, आसन को पीछी व नेत्र को शुद्ध करके अंजलीक्रिया में शुद्ध हुआ निर्मल प्रवृत्तिवाला साधु ऋद्धि आदि गौरव तथा जाति आदि के मान को छोड़कर गुरु से अपने अपराधों का निवेदन करे।

प्रतिक्रमण के भेद

प्रतिक्रमण के तीन दृष्टियों से भेद किये गये हैं—

1. पात्र की अपेक्षा, 2. काल की अपेक्षा, 3. कार्य या परिस्थिति की अपेक्षा।

1. पात्र की अपेक्षा प्रतिक्रमण के 2 मूल भेद हैं—

(i) श्रावक प्रतिक्रमण, (ii) यति प्रतिक्रमण।

(i) श्रावक प्रतिक्रमण— सद्‌गृहस्थ अथवा सन्यासोन्मुख श्रावक जो प्रतिक्रमण करता है, उसे 'श्रावक प्रतिक्रमण' कहते हैं।

(ii) यति-प्रतिक्रमण— 28 मूलगुणों का पालन करनेवाले तपस्वी साधु या मुनियों के द्वारा तत्संबंधी दोषों के निराकरण के लिये जो प्रतिक्रमण किया जाता है, उसे 'यति-प्रतिक्रमण' कहते हैं।

2. काल की अपेक्षा इसके निम्न भेद माने गये हैं—

(i)	दैवसिक प्रतिक्रमण	—	जो दिन में किया जाता है।
(ii)	रात्रिक प्रतिक्रमण	—	जो रात्रि में किया जाता है।
(iii)	आष्टाह्निक प्रतिक्रमण	—	जो आठ दिन में किया जाता है।
(iv)	पाक्षिक प्रतिक्रमण	—	जो पन्द्रह दिन में शुक्ल पक्ष या कृष्ण पक्ष में किया जाता है।
(v)	चातुर्मासिक प्रतिक्रमण	—	जो चार महीने में किया जाता है।
(vi)	सांवत्सरिक प्रतिक्रमण	—	जो एक संवत्सर या वर्ष पूर्ण होने पर किया जाता है।
(vii)	युग प्रतिक्रमण	—	जो पाँच वर्ष में एक बार किया जाता है।

3. कार्य या परिस्थिति की अपेक्षा कई भेद हैं, जिनमें प्रमुख तीन हैं—

1. **ईर्यापथ प्रतिक्रमण** — जैन साधु हमेशा ईर्यापथशुद्धिपूर्वक ही गमन करते हैं; उस समय यदि कोई दोष लगता है, तो उसका निराकरण करने के लिये 'ईर्यापथ प्रतिक्रमण' किया जाता है।

2. **भक्तपान प्रतिक्रमण** — जो भोजन-पान आदि से संबंधित दोषों के निराकरण के लिये किया जाता है।

3. **ग्रामान्तर-गमन प्रतिक्रमण** — यह एक गाँव से दूसरे गाँव जाने पर किया जाता है।

'भगवती आराधना' की टीका में प्रतिक्रमण के 6 अन्य भेद भी गिनाये गये हैं—

1. नाम प्रतिक्रमण, 2. स्थापना प्रतिक्रमण, 3. द्रव्य प्रतिक्रमण, 4. क्षेत्र प्रतिक्रमण, 5. काल प्रतिक्रमण, 6. भाव प्रतिक्रमण। ❖❖

"ब्राह्मी परब्रह्मसम्बन्धिनी सरस्वती वेदपुराणादिरूपा विद्या।"

साहू असोग (साहू अशोक)

—डॉ० उदयचन्द्र जैन

देसे अणेग-वरसेट्ठ-गुणाणुरागी, माणी सुदाणि-सुदणाणि-पमाणिगाणि।
भत्तो सुदेस-अणुराग-मुणीस-मग्गी, सेट्ठी असोग-गदसोग-मुधारसाणि।। 1।।

अर्थ :— इस देश में अनेक लोग हुए। वे उत्तम से उत्तम गुणों के अनुरागी रहे हैं। वे सम्मान देनेवाले, दान में अग्रणी और श्रुतज्ञान की प्रामाणिकता को रखनेवाले रहे हैं। उनमें स्वदेशप्रेमी, आचार्य, मुनिवरों आदि के मार्गानुगामी श्रेष्ठी अशोक मानो शोक से रहित मोदरस देनेवाले थे।

पुव्वाजणा परिजणा सुदधार-जुत्ता, वावार-खेत्त-णिवुणा भरहे सुपंते।
सम्माण-णाम-बहुमाण-पमाण-सुत्ता, साहुत्त-संति-सिरिसंतिपसाद-साहू।। 2।।

अर्थ :— इनके पूर्वजन, परिजन श्रुतदेवता की आराधना से युक्त थे, इसलिए व्यापारक्षेत्र में निपुण हुए और सम्पूर्ण भारत के प्रान्तों में व्यापार में नाम पाया, सम्मान पाया और अत्यधिक धन की प्रामाणिकता से श्रेष्ठता अर्जित की। आपके पूर्व श्री शान्तिप्रसाद साहू विशेष शान्ति के सूत्रधार थे।

सेयंस-णाम-जिणसासण-अग्गभूदो, अज्झप्पहाणि-पहुदाणि-महाहि सेट्ठी।
तेसिं गुणाण अणुसारि-समग्ग-दिट्ठी, साहू असोग-जिणधम्म-सुतित्थ-पुट्ठी।। 3।।

अर्थ :— श्रेयांस नाम जिनशासन में अग्रणी रहा है, वे अध्यात्मप्रधानी, अत्यधिक दानी एवं प्रमुख श्रेष्ठी रहे। उनके गुणों का अनुसरण इनकी पूर्णदृष्टि रही है। साहू अशोक ने जैनतीर्थ रक्षा से जिनधर्म को अधिक सुरक्षित किया है।

तित्थेण रक्ख-सुददंसण-रक्खेणेणं, संवड्ढणेण सपगासण-कारणेणं।
हॉज्जेदि एस पहुभावण-भावणं च, णेदूण साहु-सुदधम्मपहावणं च।। 4।।

अर्थ :— यह तो सत्य है कि तीर्थरक्षा, श्रुतदर्शन, श्रुतरक्षण, श्रुत-संवर्धन एवं श्रुत-प्रकाशन के कारण से श्रुतधर्म की प्रभावना होती है। यही प्रभुत्व एवं बलवती भावना लेकर साहू अशोक श्रुतप्रभावना करते रहे।

रट्ठगणी पवल-लेह-सिलं च पट्टं, णो लद्ध-कव्व-जिणधम्म-सुसत्थ-सुत्तं।
पागासिदूण सुदभारदि-सम्म-सेवं, कुव्वेंज्जदे अणुरदा बहुरट्ठभावी।। 5।।

अर्थ :— वे साहू अशोक राष्ट्रभावना से परिपूर्ण, राष्ट्र को अग्रगामी बनाने के लिए प्रयत्नशील रहे, उस राष्ट्रभावना से वे शिलालेखों, अनुपलब्ध काव्यों, जिनधर्म के शास्त्रों एवं सूत्र-ग्रन्थों को प्रकाशित कराकर श्रुतभारती की सम्यक् सेवा करते रहे।

सेवं सुदं सुदगणीण बहुं च माणं, पुरक्करं च पवदिदूण सुलक्ख-लक्खं।
साहिच्च-सक्किदि-सुदाण महच्च-दिण्णो, सो पागिदप्पियवरो पददेदि माणं।। 6।।

अर्थ :— उन्होंने श्रुतसेवा को महत्त्व दिया, उन्होंने साहित्य एवं संस्कृति के पुत्रों तथा श्रुतगुणीजनों को बहुत मान दिया। उस मान के प्रदान करने के लिए लाखों-लाख रुपयों के पुरस्कार घोषित किए। वे प्राकृत की श्रेष्ठता पर मुग्ध होकर उसे अत्यधिक मान देते रहे।

जाणंति सव्वजिणसासण-मग्गगामी, तस्सेव जगिद-सुतित्थ-सुरक्ख-रक्खं।
सम्मेद-सेल-गिरणार-गिरी विसेसा, तित्था जिणाण पवला जिणमुत्ति-मुत्ती।। 7।।

अर्थ :— सभी लोग जानते हैं, जिनशासन के अनुयायी मानते हैं कि जिनतीर्थ, जिनमूर्तियाँ, बहुत से तीर्थ, सम्मेदशिखर, गिरनार आदि विशेष इनकी जागृत भावना से सुरक्षा कवच पहने हैं।

तं भद्द-आगम-सुदं जिणभत्ति-साहुं, साहुत्त-भावण-गुणं मुणि-सद्द-भावं।
हासं मुहं सरण-अप्प-जिणाणुरागिं, सेवं सरं परम-अंजलि-अप्प-अप्पं।। 8।।

अर्थ :— उन भद्र परिणामी, आगमश्रुत प्रधानी, जिनभक्ति की परमभावना एवं गुणों के गुणज्ञ, मुनियों के श्रद्धालु, हास्यमुख, सरल आत्मन् तथा जिनानुरागी की सेवा का स्मरण ही हमारी अल्प से अल्प भावना परम-अंजलि होगी।

सद्द-सूद-पहूदगो उदयचंद पूदगो।
साहु-असोग-सेट्ठिणं, सरेमि णिच्च पागिदो।। ❖❖

वृद्धावस्था

"हन्त लोको वयस्यन्ते, किमन्यैरपि मातरम्।
मन्यते न तृणायापि, मृतिः श्लाघ्या हि वार्धकान्।।"

भावार्थ :— बुढ़ापा बड़ी बला है, इस बुढ़ापे में और की तो बात ही क्या? मनुष्य अपने को जीवन देने और पालने-पोषण करनेवाली अपनी माता का भी आदर नहीं करते। इसलिए बुढ़ापे से तो मर जाता ही अच्छा है। ❊❊

प्राचीन नाटकों में प्रयुक्त प्राकृतों की सम्पादकीय अवहेलना

—*प्रभात कुमार दास*

प्राचीन संस्कृत के नाटककारों ने नाट्य-साहित्य तत्तत्युगीन विभिन्न प्राकृतों के क्षेत्र-कालानुरूप एवं पात्रानुरूप प्रयोग करके प्राकृत के लोकजीवन के रूपों को अमृतत्व प्रदान करने का सार्थक एवं सबल प्रयास किया था; जो कि न केवल नाट्यशास्त्रीय दृष्टि से अपितु भाषाशास्त्रीय दृष्टि से भी अत्यन्त सफल रहा था। किंतु आधुनिक सम्पादकों ने संस्कृत-पाठ्यक्रमों में इनकी 'संस्कृत-छाया' बनाकर नाट्यशास्त्र एवं भाषाशास्त्र —दोनों दृष्टियों से स्वरूप-विकृत करने का जो कार्य किया है; उसकी सप्रमाण झलक इस आलेख से प्राप्त होती है।

—सम्पादक

वैदिक वाङ्मय में चार वेदों की सृष्टि नैतिक एवं आध्यात्मिक दृष्टि से की गई। इससे व्यक्ति की नैतिक एवं आध्यात्मिक आवश्यकताओं की काफी हद तक पूर्ति हुई, किन्तु लोकरंजक एवं सांस्कृतिक अभिरुचि की पूर्ति के लिए कोई साधन उपलब्ध नहीं था। किंवदन्ती है कि तब मनुष्यों और देवताओं ने जाकर ब्रह्मा जी से प्रार्थना की कि "हमारे लिए मनोविनोद का कुछ साधन बताइए", तब ब्रह्मा जी ने 'ऋग्वेद' से कथातत्त्व, 'यजुर्वेद' से अभिनय, 'सामवेद' से संगीत तथा 'अथर्ववेद' से रसतत्त्वों को लेकर 'पंचमवेद' नाम से 'नाट्यवेद' की सृष्टि की; जिससे देवताओं और मनुष्यों के मनोविनोद एवं सांस्कृतिक विकास का मार्ग प्रशस्त हुआ। यह 'नाट्यवेद' की परम्परा लोकजीवन में बहुप्रचलित रही तथा ईसापूर्व द्वितीय शताब्दी के सम्राट् खारवेल के शिलालेख में इसे ही 'गंधर्ववेद' के नाम से भी उल्लिखित किया गया है। इस उल्लेख से प्रमाणित होता है कि यह नाट्यवेद पहिले 'गंधर्ववेद' के नाम से जाना जाता था। लोकजीवन में जनसामान्य से लेकर सम्राट् तक इसकी शिक्षा प्राप्त करते थे। यद्यपि यह नाट्यवेद आज उपलब्ध नहीं है, किन्तु इसी नाट्यवेद या गंधर्ववेद के आधार पर आचार्य भरतमुनि ने 'नाट्यशास्त्र' की रचना की थी, जो कि आज उपलब्ध है। वर्तमान परम्परा में रचित जितने भी प्राचीन नाट्यविद्या के ग्रन्थ हैं, वे सभी इसी नाट्यशास्त्र में वर्णित परम्परा एवं निर्देशों पर आधारित हैं।

नाट्य-साहित्य का लोकजीवन में बहुत व्यापक प्रभाव रहा। क्योंकि यही एकमात्र ऐसा साहित्य था, जो दृश्य एवं श्रव्य —दोनों विधाओं से लोकरंजन करता था। इसके साथ ही इसमें लोकजीवन के पात्रों के अनुरूप विविध भाषायें, अनेक प्रकार की वेशभूषायें, विभिन्न प्रकार के चरित्र आदि जीवन्तरूप में लोगों का मनोरंजन करते थे। साथ ही इनके द्वारा विभिन्न क्षेत्रों की संस्कृतियों, इतिहास एवं परम्पराओं आदि का भी बोध होने से शैक्षिक जगत् में भी इनकी व्यापक उपादेयता थी, जो आज तक अनवरतरूप से बनी हुई है। उपने उपर्युक्त गुणों के कारण ही नाट्य-साहित्य की सम्पूर्ण विधाओं में सर्वश्रेष्ठ साहित्यिक विधा माना गया और 'काव्येषु नाटकं रम्यं' जैसी उक्तियाँ नीतिवाक्य के रूप में प्रचलित हुईं। ये सभी नाट्यसाहित्य के अद्वितीय महत्त्व को स्पष्टरूप से रेखांकित करती है।

भरतमुनि 'नाटक' की कथावस्तु के विषय में अपना मत स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि "देवता, मनुष्य, राजा एवं महात्माओं के पूर्ववृत्त की अनुकृति 'नाटक' हैं।" समय के अन्तर से नाटक का दूसरा नाम 'रूप' या 'रूपक' हुआ; क्योंकि यह आँखों से देखा जाता था, इसलिए 'रूप' था, और अतीत के व्यक्तियों का आज के नाटक करनेवाले पात्रों में आरोप होता था, इसलिए इसको 'रूपक' संज्ञा दी गई :—

"अवस्थानुकृति नाट्यं रूपं दृश्यतयोच्यते।
रूपकं तत्समारोपात् दशधैव रसाश्रयम्।।" —*(दशरूपक)*

भारतीय परम्परा 'नाटक' की उत्पत्ति अलौकिक सिद्धान्त के आधार पर मानती है। भरतमुनि ने 'नाट्यशास्त्र' में बताया कि ब्रह्मा जी ने 'ऋग्वेद' से पाठ्य (संवाद), 'सामवेद' से संगीत, 'यजुर्वेद' से अभिनय, 'अथर्ववेद' से रस के तत्त्वों को लेकर नाट्यवेद की रचना की; परन्तु एक विचारधारा नाटक की उत्पत्ति लोकप्रचलित नृत्य और संगीत के उपकरण से मानती है। लोक में प्रचलित विविध मनोविनोदों, नृत्यों, अभिनयों से इसके स्वरूप को थोड़ा परिष्कृत करके 'रूपक' शास्त्रीय संज्ञा दी गई और बाद में उनमें से कुछ को अधिक पल्लवित और संस्कारित करके 'उपरूपक' बना दिया गया।

'रूपक' के कालान्तर में कई भेद हो गये। स्वयं आचार्य भरतमुनि ने दश प्रकार के रूपकों की चर्चा की है। परवर्ती काल में उपरूपकों का भी विकास हुआ। इन रूपकों एवं उपरूपकों के द्वारा नाट्य-साहित्य की परम्परा चिरकाल से पुष्पित और पल्लवित होती रही है।

इस परम्परा का महत्त्व जहाँ सांस्कृतिक एवं साहित्यिक दृष्टि से विशेष रहा, वहीं भाषिक दृष्टि से भी यह अत्यन्त उपयोगी रही है। एक किम्वदन्ती है कि "कोस-कोस पर बदले पानी, तीन कोस पर बदले वाणी।" अर्थात् जल के गुण, स्वाद आदि एक कोस की दूरी पर बदल जाते हैं तथा वाणी का स्वरूप तीन कोस की दूरी पर बदल जाता है। तथा

कालक्रम से भी वचनात्मक स्वरूप में व्यापक परिवर्तन आते ही हैं। क्षेत्र एवं काल के क्रम से परिवर्तित एवं परिवर्धित होती इसी वाणी के स्वरूप को भाषिक वर्गीकरणों में परिलक्षित किया जाता है। यद्यपि आंचलिक एवं क्षेत्रीय अल्पायुवाले भाषिक स्वरूप भी अनेकों हुए हैं, तो कुछ अतिव्यापक एवं अपेक्षाकृत चिरंजीवी भाषायें भी रही हैं। इन सभी में मानवमात्र के विचारों एवं अनुभूतियों के साथ-साथ कल्पनाओं के सतरंगी संसार को भी स्वर प्रदान किये हैं।

अतिप्राचीनकाल से भारत की दो प्रधान साहित्यिक भाषाओं— 'संस्कृत' और 'प्राकृत' में व्यापक साहित्य-सृजन प्रत्येक कालखण्ड में होता रहा है। दोनों भाषाओं में अलग-अलग विविध विषयों के अपार ग्रंथ लिखे गये, किन्तु एकमात्र नाट्य-साहित्य ही ऐसा हैं, जिसमें दोनों भाषाओं का युगपत् प्रयोग उपलब्ध होता है। तथा नाट्य-साहित्य होने से इसमें उपलब्ध भाषिक-प्रयोग लोकजीवन के पात्रों एवं परम्पराओं से अत्यन्त निकटता रखते हैं, इसीलिये वे नाटक इन भाषाओं के जीवन्त प्रयोगों के अनुपम साक्ष्य हैं। किन्तु बीसवीं शताब्दी में आधुनिक सम्पादकों ने इन नाटकों का सम्पादन करते समय एक ऐसा भीषण अपराध किया है, जो कि समस्त भाषा-शास्त्रीय एवं सम्पादकीय मानदण्डों के नितान्त विरुद्ध है; वह है इन नाटकों में प्रयुक्त प्राकृतभाषायी अंश का संस्कृत-छायाकरण। इस नितान्त अवैज्ञानिक प्रयोग के कारण जो विकृतियाँ नाट्य-साहित्य में आयी हैं, जो छाया के अवैज्ञानिक प्रयोग विद्वानों ने किये हैं, उनमें जो दोष आते हैं, उनका संक्षिप्त वर्गीकृत विवेचन निम्नानुसार है—

1. अर्थभेद

प्राकृतभाषा के मूलपाठों की जब मात्र तुकान्तता के आधार पर संस्कृत-छाया बनायी जाती है, तो कभी-कभी ऐसी स्थिति बन जाती है कि मूल प्राकृत-पाठ का अर्थ कुछ है और संस्कृत-छाया के पाठ का अर्थ उससे बिल्कुल अलग हो जाता है। ऐसी स्थिति में जो मात्र संस्कृत-छाया के आधार पर इन नाटकों को पढ़ते-पढ़ाते और अनुवाद आदि कार्य करते हैं, उन्हें अर्थबोध के स्थान पर अर्थान्तर-ज्ञान की स्थिति होने पर वे प्रायः मूल लेखक के अभिप्राय से भिन्न ही अर्थ समझ लेते हैं। यह अत्यन्त चिंतनीय स्थिति है, क्योंकि इससे परम्परा के स्वरूप की हानि की आशंका होती है। ऐसे अनेकों रूप संस्कृत-छाया के पाठों में मिलते हैं।

उदाहरण-स्वरूप महाकवि राजशेखर की **'कर्पूरमंजरी'** की **'प्रथम जवनिका'** के पद्य क्रमांक 7 विचारणीय है। इसमें **'अत्थविसेसा'** इस प्राकृत पद का प्रयोग हुआ है, जबकि संस्कृत छाया में **'अर्थनिवेशा'** पाठ दिया गया है, जो कि मूलपाठ की दृष्टि से समानार्थ का बोध नहीं कराता। इसीप्रकार महाकवि कालिदास-प्रणीत **'विक्रमोर्वशीयम्'** नाटक में आगत **'अणुमिआ'** पद का संस्कृत-छाया में **'अज्ञात'** पाठ दिया गया है, जो कि पूर्णतः

अर्थभेद रखता है। यह नितान्त शब्दभेद एवं अर्थभेद की दृष्टि से विचारणीय है। जिसके लिए संस्कृत छायाकार ही उत्तरदायी हैं। क्योंकि उन्होंने पाठकों व छात्रों को ऐसे पदों का प्रयोगकर पूर्णत: दिग्भ्रमित कर दिया है।

2. व्याकरणिक दोष

प्राकृत के मूलपाठों में जो रूप (शब्दरूप या धातुरूप आदि) की दृष्टि से पाठ होते हैं। कभी-कभी ढाँचागत भेद होने के कारण संस्कृत में उनका स्वरूप बदलता ही है। यथा— प्राकृत में द्विवचन का अभाव होने से 'दो' के लिए ही बहुवचन का प्रयोग होता है। जबकि संस्कृत में उसके लिए द्विवचन का प्रयोग किया जाना ही उचित है।

इसीप्रकार प्राकृत में 'चतुर्थी' के स्थान पर 'षष्ठी' विभक्ति का प्रयोग होने से भी उसकी संस्कृत छाया में 'चतुर्थी' का ही रूप दिया जाना संस्कृत के अनुरूप है। अनुरूप स्थितियाँ धातुरूपों के प्रयोगों में भी पायी जाती हैं।

ये प्रक्रियायें यद्यपि संस्कृत के व्याकरणिक ढाँचे के अनुरूप हैं, किन्तु इससे प्राकृतभाषा में 'द्विवचन' एवं 'चतुर्थी' के रूपों के अस्तित्व का भ्रम होता है। क्योंकि पाठकगण व छात्र तो संस्कृतछाया के आधार पर ही प्राकृत का निर्णय करेंगे। मूल प्राकृत को पढ़ने-पढ़ाने की तो परम्परा ही संस्कृत-छायाकरण की प्रवृत्ति ने नष्ट कर दी है।

साथ ही कहीं-कहीं प्राकृत मूलपाठों की संस्कृत छाया बनाने में व्याकरणिक दृष्टि से भी दोष आ जाते हैं। यथा— **महूसवो > महोत्सवे** पाठ में 'प्रथमा' के स्थान पर संस्कृत-छाया में 'सप्तमी' विभक्ति का प्रयोग हो गया है। इसीप्रकार 'कर्पूरमंजरी' सट्टक में 'मए' की संस्कृत-छाया **'माम्'** के रूप में दी गयी है। जो कि 'तृतीया' विभक्ति के स्थान पर 'द्वितीया' विभक्ति का प्रयोग है। इसीप्रकार 'कर्पूरमंजरी' में 'लंकागिरिमेहलाहिं' इस तृतीया-बहुवचनान्त प्रयोग की जगह 'लंकागिरिमेखलायां' यह सप्तमी-एकवचनान्त का प्रयोग संस्कृत छायाकार ने दिया है।

3. शब्दभेद

प्राकृत के मूल शब्द संस्कृत-छायाकारों ने मनमर्जी से बदलकर उनके स्थान पर उससे मिलते-जुलते अर्थ वाले भिन्न शब्दों का प्रयोग कर उसका संस्कृत-छाया नामकरण भी दूषित कर दिया है। उदाहरणस्वरूप 'कर्पूरमंजरी' आठवें पद्य में—

"परूसा सक्कयबंधा पाउअबंधो वि होइ सुउमारो" की संस्कृत-छाया में **"परुषा संस्कृतगुम्फा प्राकृतगुम्फोऽपि भवति सुकुमार:"** —ऐसा प्रयोगकर **'बंध'** शब्द के स्थान पर **'गुम्फ'** शब्द का प्रयोग किया गया है, जबकि संस्कृत में भी 'बंध' पद का प्रयोग सुसंगत हैं।

इसीप्रकार 'कर्पूरमंजरी' में **'आवज्ज'** इस प्राकृत पाठ के लिए **'आवेग'** यह संस्कृत छाया दी गयी है। इसमें तुकान्तता भले ही प्रतीत होती है, किन्तु यह स्पष्टरूप से शब्दभेद भी हैं; जो कि अर्थभेद का प्रदर्शन भी करता है।

4. पदलोप

प्राकृतभाषा के अंश में जितने पदों या शब्दों का प्रयोग होता है, उनकी संस्कृत-छाया में कभी-कभी असावधानीवश किसी पद या शब्द का प्रयोग छूट जाने से मात्र संस्कृत-छाया को पढ़नेवालों के लिए वह मूलपाठ गायब ही हो जाता है। तथा कभी-कभी मात्र अभिप्राय को लेकर संस्कृत-छाया बनानेवाले सम्पादक उसी अभिप्राय के अन्य कोई संक्षिप्त पद प्रयुक्त कर देते हैं, तो कभी-कभी जानबूझकर भी कोई पद छोड़ दिया गया है।

उपर्युक्त स्थितियों में से कोई भी स्थिति हो, किन्तु मूलग्रन्थ-कर्त्ता के पाठ का लोप करने के अपराध से वे नहीं बच सके हैं। यह अक्षम्य स्थिति है। इसके कतिपय दृष्टान्त द्रष्टव्य हैं— **'इअ जस्स पएहिं परम्पराइं'** की **'इत्येतस्य परम्परया'** संस्कृत-छाया दी गयी है। यहाँ **'पएहिं'** पद का लोप हो गया है। 'अभिज्ञानशाकुन्तल' में भी एक जगह **'तओवण'** की संस्कृतछाया में मात्र **'वन'** का प्रयोग हुआ है। यहाँ 'तपो' पद का लोप हुआ है।

'कप्पूरमंजरी' में ही एक जगह प्रयुक्त **'सहसा'** पद का संस्कृत-छायाकार ने पूर्णतः लोप कर उसके स्थान पर यादृच्छिक रूप से **'भुवने'** पद का प्रयोग अपनी ओर से कर दिया है।

5. **छन्दानुरूप आदर्श-प्रयोगों का अभाव :—** एक भाषा से दूसरी भाषा में मात्र छायाकरण करने पर यह विरूप स्थिति बनना अत्यन्त स्वाभाविक है; क्योंकि दोनों के वर्ण-प्रयोगों की, शब्द एवं धातुरूपों आदि की स्थितियाँ भिन्न-भिन्न हैं। फिर भी संस्कृत-छाया के छन्द को देखकर कोई भी पाठक या छात्र यह कैसे अनुमान लगा सकता है कि मूलकर्त्ता ने कैसा छन्द प्रयोग किया था? अथवा संस्कृत-छाया के छन्द में जो मात्रागत या वर्णगत दोष प्राप्त हो रहे हैं, वे मूल छन्द में नहीं थे? यथा—

(प्राकृत में) **"चित्ते वहुट्टदि ण खुट्टदि सा गुणेसुं,**
सेंज्जाइ लुट्टदि विसप्पदि दिहमुहेसुं।
वोलम्मि वट्टदि पवट्टदि कव्वबंधे,
झाणे ण तुट्टदि चिरं तरुणी तरट्टी।।"

(संस्कृत में) **"चित्ते प्रस्फुटति न क्षीयते सा गुणेषु,**
शय्यायां लुठति विसर्पति दिङ्मुखेषु।
वचने वर्तते प्रवर्तते काव्यबंधे,
ध्याने न त्रुट्यति चिरं तरुणी चलाक्षी।।"

यह 'वसन्ततिलका' छन्द है, जिसके संस्कृत-छायाकरण में छन्दगत नियम का उल्लंघन हुआ है। ऐसी सूक्ष्मता से देखा जाये, तो प्रायः प्रसिद्ध छन्दों का संस्कृत-छायाकरण करने से यही स्थिति बनी हुई है।

7. रूपकशास्त्र के विरुद्ध स्थिति :— रूपकशास्त्रीय नियमों में जिन पात्रों को प्राकृत बोलने का विधान किया गया हो, उन्हें संस्कृत प्रयोग करते हुए दिखाना उसीप्रकार की स्थिति का निर्माण करता है, जैसे रामचन्द्र जी के जीवन को मंचित करने में राम का अभिनय करनेवाला पात्र यदि 'अंग्रेजी' या 'उर्दू' में बोलने लगे, तो स्थिति हास्यास्पद हो जाती है। यह नितान्त अस्वाभाविक एवं मर्यादा-विरुद्ध स्थिति है।

आज भी पात्रानुकूल भाषा का चयन आधुनिक नाटक लेखक, निर्देशक से लेकर चलचित्रों आदि की पटकथा एवं शब्दांकन में भी सावधानीपूर्वक किया जाता है।

इसतरह संस्कृत के प्रयोग से न केवल स्वरूप एवं परम्परा की हानि होती है, अपितु स्वाभाविकता भी नष्ट होती है। यह आचार्य भरतमुनि आदि रूपकशास्त्रीय विशेषज्ञों के द्वारा निर्धारित सिद्धान्तों, मानदण्डों एवं निर्देशों का खुला उल्लंघन है, जो कि किसी भी स्थिति में स्वीकार्य नहीं कहा जा सकता है।

इसकी जगह संस्कृत में अन्वयार्थ, अनुवाद, भावार्थ, टिप्पणी आदि कुछ भी दी जा सकती है; क्योंकि इससे मूललेखक के मूलपाठ की स्वरूप-हानि नहीं होती है। किन्तु संस्कृत-छाया से मूलपाठ की ही हानि होने से इसे कभी भी क्षम्य नहीं माना जा सकता है। इसका घोर-विरोध एवं पूर्णतया प्रतिबंध होना ही चाहिए, ताकि हमारे नाटककारों के ग्रन्थों का मूलस्वरूप सुरक्षित रह सके तथा उनकी स्वाभाविकता, सजीवता एवं चित्ताकर्षण क्षमता बनी रहे। ❖❖

'नेता' के लक्षण

नेता विनीतो मधुरस्त्यागी दक्षः प्रियंवदः।
रक्तलोकः शुचिर्वाग्मी रूपवंशः स्थिरो युवा।।
बुद्धचुत्साह-स्मृति-प्रज्ञा-कला-मान-समन्वितः।
शूरो दृढश्च तेजस्वी शास्त्रचक्षुश्च धार्मिकः।।" —*(दशरूपकम्, 2-1/2)*

अर्थ :— नेता विनयवान् होता है, मधुरभाषी होता है, त्यागवृत्ति वाला होता है, (अपना कार्य करने में) निपुण होता है, प्रियवचन बोलता है, लोकप्रिय होता है, पवित्र जीवनवाला होता है, वाग्मी (वक्तृत्वकला में निष्णात) होता है, प्रतिष्ठित वंशवाला (अर्थात् जिनके वंश में कलंकित जीवन किसी का भी न हो) होता है, स्थिर चित्तवाला होता है, युवा (कर्मठ) होता है, बुद्धि-उत्साह-स्मृतिक्षमता-प्रज्ञा-कला-सम्मान से समन्वित होता है, शूरवीर होता है, दृढ़मनस्वी होता है, युवा (कर्मठ) होता है, बुद्धि-उत्साह-स्मृतिक्षमता-प्रज्ञा-कला-सम्मान से समन्वित होता है, शूरवीर होता है, दृढ़मनस्वी होता है, तेजवान् होता है, शास्त्रचक्षुः (अर्थात् शास्त्रविरुद्ध कार्य कभी भी न करनेवाला) होता है और धर्मप्राण होता है। ❋❋

ईसापूर्व के महत्त्वपूर्ण शिलालेखों की भाषा में तत्कालीन शौरसेनी प्राकृत का प्रभाव

—श्रीमती मंजूषा सेठी

प्राचीन प्राकृत के प्रयोगों को यथावत् रूप में देखने के लिए हमारे पास प्राचीन शिलालेख ही एकमात्र शरण हैं; क्योंकि अन्य ग्रंथ कितने भी प्राचीन रचित रहे हों, किंतु उनकी अभी मिलने वाली पाण्डुलिपियाँ इतनी प्राचीन नहीं है। अत: इन प्रतिलिपि-रूप पाण्डुलिपियों के आधार से प्राकृतभाषा के प्राचीनरूप को अंतिमप्रमाण के रूप में नहीं कहा जा सकता है। यद्यपि शिलालेखों में भी सरकारी अधिकारियों/पंडितों एवं खोदनेवाले शिल्पियों की असावधानियों से कई दोष मिलते हैं; फिर भी तकनीकीरूप से वे ही प्राचीनतम मूलप्रमाण माने जायेंगे। इनमें उपलब्ध प्राकृतभाषा के स्वरूप की समीक्षा विदुषी लेखिका ने श्रमपूर्वक इस आलेख में की है, जो विचारणीय है। —सम्पादक

साहित्य समाज का दर्पण होता है। समाज जिसप्रकार का होगा, उसी भाँति साहित्य में प्रतिबिम्बित होता है। समाज के प्रत्येक पहलू के निश्चित ज्ञान का प्रधान-साधन तत्कालीन साहित्य ही है। संस्कृति के उचित प्रचार तथा प्रसार का सर्वश्रेष्ठ साधन साहित्य ही है। यदि हमें किसी भाषा तथा उसके साहित्य का अवलोकन करना है, तो हमें उस भाषा का इतिहास तथा विकासक्रम भी जानना जरूरी हो जाता है। वह साहित्य किस प्रकार के सामाजिक तथा अन्य परिप्रेक्ष्य में रचा गया— इस पर भी प्रकाश डालना होगा। प्रस्तुत आलेख में 'ईसापूर्व के महत्त्वपूर्ण शिलालेखों की भाषा में तत्कालीन शौरसेनी प्राकृत का प्रभाव' विषय पर विचार किया गया है।

प्राकृतभाषा के प्राचीनतम लिखित प्रमाण शिलालेखों में ही प्राप्त होते हैं। अत: किसी भी प्राकृतभाषा का प्राचीन रूप एवं उसका तुलनात्मक अध्ययन करना हो, तो ईसापूर्वयुगीन शिलालेख में उपलब्ध प्राकृत रूप एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण उपादान सिद्ध होते हैं। दिगम्बर जैन आगम-ग्रंथों में, विशेषत: आचार्य कुन्दकुन्द के साहित्य से भारतवर्ष की प्राचीन एवं व्यापक भाषा शौरसेनी प्राकृत के महत्त्वपूर्ण निदर्शन प्राप्त होते हैं। इसमें इतना ही अन्तर है कि कुन्दकुन्द का लिखित साहित्य परवर्ती लिपिकारों के विभिन्न कालखण्डों में की गयी प्रतिलिपियों के रूप में मिलता है। तथा कुन्दकुन्द के द्वारा लिखित मूलप्रति कोई प्राप्त नहीं

होती है; जबकि शिलालेखीय साहित्य मूलरूप में मिलता भी है। इसलिए तुलनात्मक अध्ययन की दृष्टि से यह एक महत्त्वपूर्ण साधन है। इसी बात का ध्यान रखते हुए इस आलेख में उक्त दोनों साहित्यों का इतिहास, भाषिक प्रयोगों के साम्य एवं वैशिष्ट्य को रेखांकित करते हुए भाषिक विकास एवं तुलनात्मक अध्ययन की दृष्टि से समीक्षा की गई है। साथ ही प्राकृतभाषा के उपलब्ध नियमों की दृष्टि से इनका तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है।

शौरसेनी प्राकृत का विकास

प्राकृतभाषा का इतिहास :— अनुमानों के आधार पर 'ऋग्वेद' के लेखन का काल ईसापूर्व 3000 वर्ष माना गया है तथा सिन्धुघाटी-सभ्यता भी लगभग उतनी ही पुरानी अनुमानित की गयी है। उसके उत्खनन में मानव-जीवन की दैनिक उपयोग सम्बन्धित विविध सामग्रियों में मुहरें प्रमुख हैं, जिन पर अंकित शब्दावली को इतिहासकारों, पुरावेत्ताओं एवं भाषाशास्त्रियों ने प्राकृतभाषा माना है। प्राकृतभाषा का उद्गम एवं 'ऋग्वेद' की 'छान्दस्' भाषा का तुलनात्मक अध्ययन कर विद्वानों ने यह निष्कर्ष निकाला है कि आदिम जनबोली रूप प्राकृत से विकसित वह भाषा ही 'छान्दस्' है; जिसमें की 'ऋग्वेद' की रचना की गयी है। विद्वानों के अनुसार प्राकृत जनबोली से विकसित उक्त 'छान्दस्' से भी परवर्ती युगों में साहित्यिक भाषाओं का विकास हुआ, लौकिक संस्कृत एवं साहित्यिक प्राकृत। आगे चलकर नियमबद्ध हो जाने का कारण लौकिक संस्कृत का प्रवाह अवरुद्ध हो गया, जबकि प्राकृत का प्रभाव बिना किसी अवरोध के आगे चलता रहा। जिससे आज की आधुनिक भारतीय भाषाओं का विकास हुआ।

शौरसेनी प्राकृतभाषा का विकास :— ईसापूर्व में 'नाट्यशास्त्र' के प्रणेता आचार्य भरतमुनि के पहले शौरसेनी प्राकृत को किस नाम से जाना जाता होगा? —इसके प्रमाण नहीं मिलते हैं। परंतु उस समय एक ऐसी प्राकृतभाषा थी, जो सर्वमान्य थी। केवल क्षेत्रीय प्रभाव आने के कारण उनके शाब्दिक-रूपों में परिवर्तन हुए, इसकारण अलग-अलग प्राकृत भाषायें, विभाषायें बनीं। भरत मुनि ने भी सर्वाधिक महत्त्व शौरसेनी प्राकृत को ही दिया। जितने प्रमाण शौरसेनी प्राकृत के जनबोली तथा सर्वसामान्य लोगों की लोकप्रिय भाषा के मिलते हैं, उतने अन्य किसी के नहीं। इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि ईसापूर्व की प्राकृत का ही नाम 'शौरसेनी प्राकृत' था।

ईसापूर्व की शौरसेनी प्राकृत का स्वरूप :— ईसापूर्व से लेकर पाँचवी शताब्दी तक शौरसेनी प्राकृत को ही 'सामान्य प्राकृत' कहा जाता था। तथा ईसा की पाँचवीं शताब्दी से इसी की दुहिता 'महाराष्ट्री प्राकृत' को ही 'सामान्य प्राकृत' कहा गया। मध्यदेश की भाषा शौरसेनी प्राकृत थी। क्षेत्रीयता से सम्बन्धित भले ही इसका नामकरण हुआ हो, परन्तु तत्कालीन भारत के व्यापक भूभाग की सुपरिचित व्यावहारिक भाषा होने से अपने संदेशों व उपदेशों की व्यापक उपयोगिता की दृष्टि से इसी 'शौरसेनी प्राकृतभाषा' में विपुल

साहित्य का सृजन हुआ। साथ यही एकमात्र प्राकृत थी, जो कि संस्कृतभाषा के सर्वाधिक निकट थी। इसीलिए भी इसमें निबद्ध साहित्य की विशिष्ट विद्वानों के लिए भी उपादेयता थी। 'शौरसेनी प्राकृतभाषा' लोकजीवन में सर्वाधिक प्रचलित भाषा थी, इसका प्रमाण हमें उन प्राचीन संस्कृत नाटकों से मिलता है, जिसमें अधिसंख्य पात्र इसी भाषा का प्रयोग करते हैं। ऐसी जीवन्त भाषा को अपने साहित्य का माध्यम बनाना किसी भी विवेकी व्यक्ति का स्वाभाविक निर्णय कहा जा सकता है।

शौरसेनी प्राकृत संस्कृत भाषा के निकटवर्ती है। इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि शौरसेनी ही सबसे प्राचीन प्राकृतभाषा है। 'भाषा' संज्ञा की दृष्टि से संस्कृत एवं प्राकृत दोनों भाषाओं ने वैदिक 'छान्दस्' भाषा से सहोदरा कन्याओं के समान जन्म लिया है। अत: विद्वानों ने संस्कृत एवं प्राकृत को 'सहोदरा बहिनें' कहा है। भाषिक दृष्टि से तो संस्कृत एवं प्राकृत समवर्ती भाषायें हैं। वैदिक 'छान्दस्' भाषा से ही दोनों का उद्भव होने के कारण 'संस्कृत' एवं 'प्राकृत' का एक-दूसरे पर प्रभाव पड़ना निश्चित है। इससे यह नकारा नहीं जा सकता कि ईसापूर्व की प्राकृत संस्कृत भाषा से घनिष्ठता लिए होगी और वही भाषा 'शौरसेनी प्राकृत' है— यह सिद्ध हो जाता है।

ईसापूर्व का शौरसेनी-साहित्य :— ईसापूर्व का शौरसेनी-साहित्य मूलरूप में आज उपलब्ध नहीं है, परन्तु उनकी प्रतिलिपियाँ, टीका-साहित्य तथा उस साहित्य पर आधारित अन्य ग्रन्थ आज उपलब्ध हैं। सबसे पहले आचार्य पुष्पदन्त और आचार्य भूतबलि ने शौरसेनी प्राकृत में ही 'छक्खंडागम' के सूत्रों की रचना की। दिगम्बर जैनाचार्य कुन्दकुन्द ने शौरसेनी प्राकृत में विपुल साहित्य का सृजन किया। परन्तु इनके साहित्य को परवर्ती अनेक ग्रन्थकारों द्वारा अलग-अलग समय पर लिखे जाने के कारण क्षेत्रगत, कालगत तथा अनेक ग्रंथकारों द्वारा मूल-ग्रंथों पर टीका साहित्य, उन पर आधारित साहित्य की रचना करने से वैयक्तिक पुट तो आ ही जाता है; इसकारण पाठभेद मिलते हैं। अत: यह स्वीकारा जा सकता है कि इन ग्रंथकारों के ग्रंथों की भाषा शौरसेनी प्राकृत ही थी।

शिलालेखों में प्रयुक्त प्राकृतभाषा :— विश्व में सबसे प्राचीन विस्तृत एवं प्रामाणिक शिलालेखीय साहित्य केवल सम्राट् अशोक द्वारा लिखवाये गये अभिलेख ही हैं। इससे प्राचीन भी अभिलेख मिलते हैं; परन्तु साहित्य की दृष्टि से उनमें बहुत कमियाँ हैं। इसकारण अशोक के अभिलेख ही 'प्राचीन दस्तावेज' की मान्यता प्राप्त हैं। खारवेल का 'हाथीगुम्फा अभिलेख' भी इसीतरह का ईसापूर्व का महत्त्वपूर्ण, वर्षक्रम से सुव्यवस्थित विवरणवाला अभिलेख है। इनमें सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि ये सभी अभिलेख प्राकृतभाषा में ही लिखे हुए मिलते हैं।

अभिलेखों की भाषा एवं लिपि :— विद्वानों ने साहित्यिक प्राकृत से अशोक आदि के शिलालेखों की प्राकृत में भेद पाकर 'शिलालेखी प्राकृत' नाम से एक नयी प्राकृत का

गठन कर दिया, जो भाषावैज्ञानिक दृष्टि से बिल्कुल अनुचित प्रयोग है। क्योंकि प्राकृतभाषा या अन्य किसी भी भाषा के देश, काल इत्यादि के आधार पर भेद या वर्गीकरण संभव है, लेखन-सामग्री के आधार पर कदापि नहीं।

अशोक के अभिलेख बहुसंख्यक एवं भारत के प्राचीनतम अभिलेख होने के कारण तत्कालीन भारत की लिप्यात्मक, भाषात्मक एवं साहित्यिक स्थिति पर प्रकाश डालते हैं। अशोक ने अपने पश्चिमोत्तर प्रदेशों के अभिलेखों में यूनानी, ऐरेमाइक एवं खरोष्ठी आदि लिपियों का प्रयोग किया है, उसके 'शाहबाजगढ़ी' तथा 'मानसेहरा' अभिलेख खरोष्ठी लिपि के प्राचीनतम विस्तृत लेख है। शेष समस्त भारत में उसने 'ब्राह्मी लिपि' का प्रयोग किया। इस लिपि का रूप सर्वत्र समान है।

खारवेल के हाथीगुम्फा शिलालेख की भाषा सामान्यत: संस्कृतनिष्ठ प्राचीन शौरसेनी है। जिसमें कतिपय वर्णपरिवर्तनों में क्षेत्रीय 'ओड्रमागधी प्राकृत' का प्रभाव परिलक्षित होता है। यद्यपि इस शिलालेख में प्राचीन शौरसेनी की समस्त प्रवृत्तियाँ परिलक्षित नहीं होतीं, तो भी उसका आदिम रूप मानने में किसी भी प्रकार की विपत्ति नहीं है।

विचारणीय बिन्दु

1. अशोक के अभिलेख तथा खारवेल के अभिलेख की लिपि अधिकांशत: 'ब्राह्मी लिपि' है। इसमें समस्या यह है कि प्राकृतभाषा में मूलत: 64 वर्ण हैं तथा प्रयोगत: 44 वर्ण ही हैं। अब यह विचारणीय हो जाता है कि अशोक के अभिलेखों में जो 'ब्राह्मी लिपि' प्रयुक्त मिलती है, क्या उनमें भी इतने ही वर्ण थे, अथवा इससे कम या अधिक थे? साथ ही स्वर, व्यंजन, संयुक्त-व्यंजन, मात्रा-लेखन, अंकलेखन एवं विराम-चिह्न —इन बिन्दुओं की भी उस ब्राह्मीलिपि में क्या व्यवस्था थी? अभिलेखों में ब्राह्मीलिपि का प्राचीन रूप है। इसकारण संयुक्त व्यंजन व मात्राओं का अन्तिम रूप से निर्णय नहीं कर सकते, तथा जो शब्द प्राकृत के नियमों के अन्तर्गत नहीं आते, उन्हें 'संस्कृतनिष्ठ' भी नहीं बता सकते।
2. 'ब्राह्मीलिपि' को एवं उसके स्वर, व्यंजन आदि 6 बिन्दुओं की दृष्टि से सूक्ष्मता से अध्ययन किये बिना भाषिक स्वरूप का भी निर्धारण निर्दोष विधि से संभव नहीं है। एक लिपि से दूसरी लिपि में लिप्यन्तरण करते समय यह ध्यान रखना अनिवार्य है कि उपरोक्त 6 बिन्दुओं की जैसी व्यवस्था मूलपाठ की लिपि में है, क्या वह लिप्यंतरण की जानेवाली लिपि में भी उपलब्ध है?
3. शिलालेखों की प्राकृत के रूपों में अंतर प्रधानत: भाषागत कारणों से न होकर लिपिगत कारणों से है :—

   (अ) चूँकि उस समय संयुक्त व्यंजनों के लिखने का पूर्ण विकास नहीं हुआ था, अत: इनमें संयुक्ताक्षरों के प्रयोग कम हैं; तथापि जहाँ संयुक्ताक्षर का प्रयोग इष्ट था,

वहाँ पूर्ववर्ती स्वर को ह्रस्व रखा है तथा जहाँ उसका लोप इष्ट था, वहाँ पूर्ववर्ती स्वर को प्राकृत के नियमानुसार दीर्घ कर दिया है। हलन्त अनुनासिकों को सर्वत्र स्वरान्त बना दिया है।

(ब) प्राकृत में 'नो णः सर्वत्रः' के नियमानुसार णत्व का विधान है। फिर भी चूँकि उस समय 'न' एवं 'ण' —दोनों वर्णों के लिए प्रायः एक जैसी ही आकृति का प्रयोग होता था, अतः पाठ-सम्पादकों ने उसे 'न' ही पढ़ा, जबकि प्राकृत के अनुसार उसे 'ण' पढ़ा जाना चाहिए।

(स) इसी क्रम में 'र' के स्थान पर 'ल' का प्रयोग पूर्वीय प्रभाव की देन है। किंतु वह प्रभाव नगण्य मात्र है और शौरसेनी की विशेषताओं को कहीं भी बाधित नहीं करता है। 'र' का 'ल' तो अभिलेखों में प्रयोग मिलता है; परन्तु 'स' का 'श' मागधी प्राकृत में होते हुए भी इसका उल्लेख कहीं नहीं है। इसीकारण शौरसेनी का महत्त्व यहाँ प्रतिपादित होता है। परन्तु यहाँ 'ण' का प्रयोग भी बहुलता से मिलता है, इसकारण से हम कह सकते हैं कि शिलालेखों की भाषा शौरसेनी प्राकृत है तथा क्षेत्रीय प्रभाव के कारण इनका स्वरूप भिन्न-भिन्न प्रतीत होता है।

(द) शिलालेखों के पाठ दरबारी विद्वानों ने तैयार किये थे, वे विद्वान् संस्कृत भाषा के अच्छे जानकार थे, अपेक्षाकृत प्राकृत के। यही कारण रहा होगा कि पाठ तैयार करते समय संस्कृतनिष्ठ शब्दों का पाठों में आना स्वाभाविक हो जाता है।

(य) साहित्य-सृजन का नियम है कि लेखक जब जिस देश में रहता है, वहाँ की प्रचलिततम भाषा का उपयोग करता है। उसके उच्चारण भी उसी प्रकार के होते हैं। यही नियम शिलालेखों पर भी लगता है। शिलालेखों की मूलभाषा तो शौरसेनी है, परन्तु अशोक के शिलालेख दूर-दूर तक अनेक क्षेत्रों में पाये जाते हैं, इसकारण ही इनमें क्षेत्रीयता की दृष्टि से भेद आया है।

(र) अशोक के शिलालेखों में एक ही शब्द के अलग-अलग रूप प्राप्त होते हैं, जैसे— 'मृगः' संस्कृत शब्द का गिरनार शिलालेख में 'मगो', शाहबाजगढ़ी में 'म्रुगो' तथा पूर्व में स्थित शिलालेख में 'मिगे' रूप प्राप्त होता है। इसीप्रकार के कई अन्य उदाहरण भी मिलते हैं।

(ल) ऐसे अनेक शब्दों के रूप प्राप्त होते हैं। अध्ययन करने से इस बात का पता चलता है कि क्षेत्रगत ये भेद मात्र ध्वनियों के हैं, इनके व्याकरण का कोई मौलिक अन्तर नहीं है।

निष्कर्ष :— ईसापूर्व-युगीन शिलालेखों में शौरसेनी प्राकृत की प्रचुर मात्रा में प्रवृत्तियाँ विद्यमान हैं, भले ही उन पर क्षेत्रीय प्रभाव पड़ा हो। चूँकि इनकी लिपि 'प्राचीन

ब्राह्मीलिपि' है, अत: वर्णाकृति के साम्य के कारण कई विद्वानों ने इनके संस्कृतनिष्ठ पाठ बना दिये हैं, तो कहीं-कहीं पर पाश्चात्य विद्वानों द्वारा निर्मित पाठों में उनकी लिपि के प्रभाव के कारण भी पाठदोष आ गये हैं। जैसे— 'न' एवं 'ण' इन दोनों वर्णों के लिए अंग्रेजी में 'N' का ही प्रयोग किया जाता है। उसका 'देवनागरी लिपि' में रूपान्तरण करते समय प्राय: सभी विद्वानों ने 'न' का ही प्रयोग किया और 'ण' की प्रवृत्ति प्राय: लुप्त हो गयी। जबकि यह मूल-शिलालेखों में विद्यमान है।

अब ऐसे पाठदोष वाले पाठों को आधार बनाकर कई आधुनिक विद्वान्, जो न तो प्राचीन ब्राह्मीलिपि के और न ही प्राचीन प्राकृत के विद्वान् हैं, कहते हैं कि इन शिलालेखों में 'ण' ध्वनि है ही नहीं। मेरे कहने का यह अभिप्राय नहीं है कि अशोक के अभिलेखों में 'न' का प्रयोग कदापि नहीं है, किंतु कई जगहों पर 'ण' को 'न' भी बनाया गया है यह मेरा कथ्य है।

इसीप्रकार ईसापूर्व के प्राचीन ग्रंथों में भी परवर्ती प्रतिलिपिकारों एवं आधुनिक कई सम्पादनकला के अविशेषज्ञ सम्पादकों की असावधानियों, भाषाज्ञान न होने के कारण से भी मूलपाठों में महाराष्ट्रीकरण आ जाने से इन ग्रंथों के भाषिक स्वरूप पर आक्षेप करने लगे हैं।

ईसापूर्वयुगीन शौरसेनी साहित्य प्रमुखत: आचार्य कुन्दकुन्द-रचित प्राप्त होता है। सवाल यह है कि सुदूर दक्षिण के आचार्य मध्यदेश की 'शौरसेनी प्राकृत' में साहित्य-सृजन कैसे कर सकते हैं? क्योंकि उस समय दक्षिण में आर्यभाषा का प्रभाव था। इस बारे में 'कौशितिकी ब्राह्मण' में आया यह उल्लेख अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है— "उत्तर में बहुत विद्वत्तापूर्ण वाणी बोली जाती है और शुद्ध वाणी सीखने हेतु लोग उत्तराखण्ड को जाते थे; जो वहाँ से सीखकर आता है, उसे सुनने के लिए लोग उत्सुक रहते हैं।"

आधुनिक समालोचक विद्वान् डॉ० जगदीश चंद्र जैन लिखते हैं कि "मथुरा जैन-आचार्यों की प्रवृत्तियों का प्रमुख केन्द्र रहा है, अतएव उनकी रचनाओं में शौरसेनी आना अति स्वाभाविक है।" इसप्रकार शेष भारत के लोगों का उत्तर की भाषा शौरसेनी के प्रति अगाध आकर्षण तथा जैन-संघ का दक्षिण भारत में दीर्घप्रवास — यह दो मुख्य कारण प्रतीत होते हैं, जिनके फलस्वरूप शौरसेनी प्राकृत उपर्युक्त मध्यदेश के विशालतम क्षेत्र में प्रसरित हो गयी। इसी भाषा से परवर्ती अपभ्रंश एवं विविध क्षेत्रीय भाषाओं एवं बोलियों का उद्भव और विकास हुआ है।

इसकारण शौरसेनी प्राकृतभाषा और साहित्य के अध्ययन के बिना हम भारतीय भाषाओं, संस्कृति, इतिहास एवं साहित्य आदि के बारे में प्रामाणिक जानकारी नहीं ले सकते हैं।

भाषा-परिवार और शौरसेनी प्राकृत

—डॉ० माया जैन

भाषा के विषय में विचार करने पर यह तो निश्चित हुआ है कि व्यक्ति ने संकेतों और भावों के आदान-प्रदान के कारण जैसे-जैसे वाणी का प्रयोग किया, वैसे-वैसे ही बोलने की इच्छा के कारण शब्द-वाक्य को बल मिला और विभिन्न संपर्क एवं स्थान परिवर्तन के कारण भाषा के विविधरूप भी दृष्टिगोचर हुए। भौगोलिक परिस्थितियों के आधार पर एक से अनेक भाषायें बनती गईं। उनके प्रकार शाखा-प्रशाखा, परिवार-उपपरिवार एवं भाषा-विभाषा आदि के स्वरूप निर्धारित किये गये।

विकास एवं विस्तार

भाषा की शक्ति, विकास और विस्तार को तभी प्राप्त होती है, जब वह आदान-प्रदान का रूप ले लेती है। आदिम मानव-समाज के संकेत कुछ ऐसे ही रहे होंगे, जिनके अनुसार भाव-प्रक्रिया एवं अभिव्यक्ति का पता चल जाता है। यदि एक नन्हे शिशु को आधार लेकर चलें, तो उसके रुदन में कई प्रकार के संकेत हैं। शिशु रोता है, स्तनपान करता है और चुप हो जाता है और जब वही शिशु स्तनपान छोड़कर खेलता है, तब उसके रुदन का संकेत अलग होता है। यदि वही रुदन करता रहे, तो यह स्पष्ट है कि वह किसी व्याधि से पीड़ित है। हर प्रकार के रुदन का एक ही अभिप्राय नहीं। इसीप्रकार भाषा का अभिप्राय एक नहीं, उसमें समयानुसार स्थान-परिवर्तन के कारण नये वातावरण एवं विभिन्न संपर्क के प्रभाव से परिवर्तन हुआ है। उसी परिवर्तन एवं भाषा-सृष्टि के आरंभ से निरन्तर जो कुछ भी प्रवाह हुआ, उसके आदि एवं अंत का पता नहीं। फिर भी भारतीय एवं पाश्चात्य दोनों ही परंपराओं ने भाषा-परिवार को बारह परिवारों में विभक्त किया है। भारोपीय परिवार, सेमिटिक परिवार, हैमेटिक परिवार आदि बारह परिवार भाषावैज्ञानिकों ने दिये हुए हैं। उन बारह भाषा-परिवारों में से प्राकृतभाषा का संबंध 'भारोपीय परिवार' से है। इस भाषा परिवार के भी आरमेनियन, बाल्टैस्लैलोनिक, अलवेनियम, ग्रीक, भारत-ईरानी या आर्य-परिवार, इटैलिक, कैल्टिक एवं जर्मन-परिवार आदि उपपरिवार के रूप में विख्यात हैं। प्राकृत का संबंध भारत-ईरानी 'आर्य परिवार' से है। इस परिवार के भी ईरानी शाखा, दरद शाखा और भारतीय आर्यशाखा परिवार हैं। इन

परिवारों से शौरसेनी, अर्द्धमागधी आदि प्राकृतों का विशेष संबंध है। भाषावैज्ञानिकों ने इसका भी क्षेत्रीय दृष्टिकोण ध्यान में रखते हुए भारतीय आर्यभाषा के परिवार को 'आर्यशाखा परिवार' से संबंध बतलाकर सृजनशीलता की अपेक्षा तीन युगों में विभक्त किया है—

प्राचीन भारतीय आर्यभाषाकाल	—	(1600 ई०पू० — 600 ई०पू०)
मध्यकालीन आर्यभाषाकाल	—	(600 ई०पू० — 1000 ई०)
आधुनिक आर्यभाषाकाल	—	(ई० 1000 — वर्तमान समय)

1. प्राचीन भारतीय आर्यभाषा काल :— वेदों के रूप में भाषा का प्रवाह जिस गति से प्रवाहित हुआ, वह आज भी विद्यमान है। इनकी ऋचाओं में पावन अमृत है। इनके अर्थ में गाम्भीर्य है और भावों में प्रकृति का सर्वस्व निहित है। उनकी प्रकृति, आकृति सदैव एक-सी नहीं रही, बदलती रही; परिवर्तन हुए, परन्तु भाषा, भाव और प्रक्रिया के नियम उन्हें सुरक्षा प्रदान करते रहे हैं। भारतीय आर्यभाषा के साहित्य-क्षितिज पर वेदों का नाम जिस रूप में लिया जाता है, वह 'भारतीय आर्य शाखा परिवार' का गौरव बढ़ाता है। आर्य-साहित्य का सर्वाधिक प्राचीन ऋग्वेद है, यह सभी मानते हैं। जहाँ 'ऋग्वेद' विश्वसाहित्य का सर्वाधिक प्राचीन ग्रन्थ है, वहीं आर्य-शाखा के परिवार में आर्ष-वचन के मौलिक स्वरूप का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। आर्ष-वचन ऋषि-मुनियों के वचन हैं, वे आर्य-शाखा के विकास का यशोगान करते हैं।

'ऋग्वेद' में आर्यभाषा का जो रूप पाया जाता है, वैसा शेष यजुर्वेद, अथर्ववेद और सामवेद में नहीं पाया जाता। 'ऋग्वेद' की भाषा का साम्य अन्य वेदों से पृथक् है। जिस भाषा में वेद रचे गये, वे वैदिक भाषा के साहित्यिक स्वरूप को व्यक्त करते हैं। बौद्धिक चिन्तन के आधार पर इस भारतीय साहित्य को 'छान्दस्' भी कहा गया है; क्योंकि इसमें आर्यों की संस्कृति, यज्ञ-विधान, यजन-पूजन, भावाभिव्यंजना, उपासना, आराधना आदि के जो संकेत दिये गये हैं, वे भारतीय आर्यशाखा को पुष्ट करते हैं। आर्यशाखा के आर्यभाषा में 'छान्दस्' उस समय की साहित्यिक निधि थी। जो जनभाषा का परिष्कृत रूप है।

जनभाषा या जनता की बोलचाल की भाषा प्राकृत की प्रकृति का मूल उद्घोष है। यह जनसाधारण से जुड़ी हुई जनता की बोली है। जिसमें मूलतत्त्व को महत्त्व दिया गया। इसके साम्य और वैषम्य के कारण इसका स्वरूप निर्धारित किया गया। उच्चारण-भेद के कारण 'ऋग्वेद' आदि की 'छान्दस्' और 'प्राकृत' में अंतर है। परन्तु इसकी लिपि, आकार-प्रकार, तद्भव-शब्द या तत्सम-शब्दावली के आधार पर 'छान्दस्' और 'प्राकृत' दोनों को सहोदरा भी कहा गया। आर्यों की संस्कृति वेदों मात्र में ही नहीं है, अपितु शौरसेनी एवं अर्धमागधी के सूत्रों में भी है। बुद्ध के वचन 'त्रिपिटक' के रूप में सूत्रबद्ध

हैं। उनमें भी आर्य-संस्कृति का सार विद्यमान है। अत: भाषा की विकसनशील शक्ति के कारण 'छान्दस्' एवं 'प्राकृत' ये दो रूप प्रसिद्ध हुए। 'प्राकृत' को सर्वप्रथम 'आर्ष' कहा गया। आचार्यों ने आर्ष को महत्त्व दिया उसे परिष्कृत एवं परिमार्जित भी किया।

भारतीय जनजीवन से जुड़ी हुई जनता की जनभाषा में जो कुछ कहा गया, उसे 'आर्ष' कहा गया और फिर आर्ष वचन को क्षेत्रीय दृष्टि से नापा-तोला गया। जिसके परिणामस्वरूप विविध प्रकार के भाषागत भेद प्रकट हुए; जो जनता के बोलचाल की भाषा थी, उसमें परिवर्तन के तत्त्व देखे गये। इसी के परिणामस्वरूप छान्दस् भाषा, प्राकृतभाषा आदि नाम दिया गया। छान्दस् भाषा का एक ही स्वरूप नहीं है; परन्तु जो कुछ भी वेदों में कहा गया उसे वैदिक युग के रूप में स्वीकार करके छान्दस् भाषा कहा गया। यह प्राचीन भारतीय आर्यभाषा का प्रमुख भेद है। वैदिक युग की भाषा में वैभाषिक प्रवृत्तियों का संकेत प्राप्त होता है, जो उस समय के लोकभाषा के तत्त्व थे।

भाषा के विकास में आर्ष प्राकृत का भी महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। बुद्ध और महावीर के वचन आर्ष वचन हैं। इन दोनों के वचनों के सार 'आगम' और 'पिटक' रूप में उपलब्ध हैं। उसको भारतीय भाषा-परिवार के लिए महत्त्वपूर्ण माना गया है भाषा की दृष्टि से आर्षवचन का जो विभाजन भाषावैज्ञानिकों ने किया उसमें क्षेत्रीयता एवं कुछ स्थान परिवर्तन अवश्य निर्धारित किये हैं। भारतीय जनजीवन में निषाद, द्रविड़, किरात और आर्य —इन चार जातियों का स्थान भी रहा। यदि आर्य की दृष्टि से विचार करते हैं, तो भारतीय आर्यभाषा परिवार के विशालरूप में प्राकृत भाषाओं का विशालतम क्षेत्र भी विद्यमान है।

शौरसेनी प्राकृत ही मूल-प्राकृत है

भाषा का स्वरूप इस बात का साक्षी है कि वचन-व्यवहार या भावों का आदान-प्रदान जैसे-जैसे खुलता गया, वैसे-वैसे भाषा का स्वरूप स्पष्ट होता गया। भाषा के प्रयोग स्थान-विशेष के कारण या विभिन्न संपर्क के प्रभाव से क्षेत्रीयता को प्राप्त कर लेती है। नवीन स्थान की जलवायु एवं प्राकृतिक परिस्थितियाँ विचारधारा में जो परिवर्तन लाते हैं, वे ही परिवर्तन भाषा के परिवर्तन बन जाते हैं। जनभाषा का साहित्यिक प्रवाह बढ़ता है। तब वही आकार-प्रकार के परिवर्तन के साथ-साथ अपने नियम भी छोड़ देती है। आकार-प्रकार, नियम, भाषा, भाव और प्रक्रिया सभी कुछ देखकर ही भाषावैज्ञानिक नामकरण करता है। यही नामकरण 'शौरसेनी' को शूरसेन प्रदेश में विकसित होने के कारण ही नहीं, अपितु इसके विशालतम साहित्य और प्राचीनतम प्रयोगों के कारण 'शौरसेनी' नाम दिया गया। वेदांग की भाषा का ऐसा विभाजन इसलिए नहीं हुआ, क्योंकि इसमें परिवर्तन तो हैं; पर सूत्र की एकरूपता, भावों की विशेषता एवं वेदों की प्राचीनता के कारण इन्हें 'छान्दस्' तो कहा गया; पर 'ऋग्वेद' की भाषा पृथक् है, तथा 'यजुर्वेद'

की भाषा भी पृथक् है। ऐसा कथन करने के बाद भी क्षेत्रीयता ने अपना स्थान नहीं बना पाया होगा। इसलिए कुछेक परिवर्तनों के कारण यजुर्वेद, अथर्ववेद और सामवेद का भाषा-दृष्टि से भेद हुआ; पर क्षेत्र की दृष्टि से भेद नहीं होने के कारण इन सभी वेदों की भाषा को 'छान्दस्' कहा गया।

शौरसेनी साहित्य के प्राचीनतम रूप के विषय में करने की आवश्यकता नहीं। क्योंकि जो कुछ भी आगमों में सुरक्षित है, वह जब क्षेत्रीय दृष्टि से प्रमाणित किया गया, तो यही कहा गया कि शौरसेनी आगम साहित्य शूरसेन, मथुरा आदि के आसपास के क्षेत्रों की क्षेत्रीयता को किए हुए है। इसका प्रचार पूर्व, पश्चिम और दक्षिण भारत में सर्वत्र था। नाटकों में भी शौरसेनी भाषा का प्रयोग अधिक से अधिक हुआ है। महाकवि कालिदास के ही एकमात्र नाटक 'शाकुन्तलम्' को आधार बनाकर यदि मूल्यांकन किया जाये, तो राजा, मंत्री एवं पुराहित को छोड़कर अन्य जितने भी पुरुष पात्र, स्त्री-पात्र एवं बालक शौरसेनी का ही प्रयोग करते हैं। कालिदास के नाटक के गद्यांशों की समीक्षा की जाये, तो यह भी स्पष्ट होता है कि उन्होंने शौरसेनी के 80 से 85% प्रयोग किये है। प्राय: यह देखा गया है कि नाटककार 'नाट्यशास्त्र' के नियम से जुड़कर ही भाषाओं को महत्त्व देता है। पात्रों के अनुसार भाषा-प्रयोग अभिनय की एक कला है। जिस कला को हर युग में स्थापित किया गया। दो हजार वर्ष के बाद भी नाटककार यदि संस्कृति में नाटक प्रस्तुत करता है, तो उसे पात्रों के अनुसार भाषा का प्रयोग करना पड़ेगा। आज हिन्दी भाषा है, उसमें भी आंचलिकता का समावेश किया जाता है, तभी वह अपने स्वरूप को स्थान दे पाती है।

शौरसेनी प्राकृत की दृष्टि एक भाषिक दृष्टि है। जिनवाणी भारतीय भाषा की गरिमा है। इसी भाषा के दिगम्बर आम्नाय में प्रचलित प्राकृत के सभी ग्रन्थ इस बात का प्रमाण देते हैं कि भाषा की विविधता तो हो सकती है, पर साहित्य-प्रयोग की एकरूपता 'छक्खंडागमसुत्त' से लेकर आज तक उसी रूप में विद्यमान है। पहली शताब्दी का कवि जिस शौरसेनी में रचना करता है, वही शौरसेनी कुन्दकुन्द, यतिवृषभ आदि की है। नवमी शताब्दी के कवियों की है। 14वीं शताब्दी एवं इस बीसवीं शताब्दी में भी दिगम्बर आम्नाय का माननेवाला सर्वज्ञ वाणी को यदि काव्यात्मक रूप देना चाहेगा, तो वह शौरसेनी को नहीं भूल सकता है। जिनवाणी की भाषा कोई भी हो सकती है, पर समयानुसार किसे महत्त्व दिया गया, यह विशेष महत्त्व रखता है। 'छक्खंडागमसुत्त' आदि एवं 'तत्त्वार्थसूत्र' आदि जिनवचन हैं। ❖❖

सेवा धर्म-समाज की, आगम के अनुकूल।
यह पुनीत उद्देश्य है, जैनधर्म का मूल।।

आयरियप्पवरो सिरिदेसभूसणो

—*प्रो० माधव श्रीधर रणदिवे*

'भो भव्वजणा ! तुम्हेच्चिय अप्पाणं कत्ता विणासगा भगविधादा य। तुम्हेच्चिय अप्पाणं मित्ता वेरिणो वि। जारिसं सुभासुभं कम्मं करिस्सध, तारिसं सुक्खदुक्खं भुंजिस्सध। कडाण कम्माण ण मॉक्खोऽत्थि। कत्तारमेव अणुजादि कम्मं। उट्ठध, मा पमादं कुणध। अलियं वयणं अयसकरं वइरवड्ढणं च। सच्चं खु भगवं। सच्चं सगगद्दारं सिद्धीए सोपाणं च। वित्तेणताणं ण लभदि पमत्तो। जहा लाभो तहा लोभो। लाभा लोभो पवड्ढदि। लोभो सव्वविणासगो। लोभो संतोसेण जिणे सव्वं णयणं सापेक्ख सच्चं। दूरं कुणध मणंसि दंदं वयणस्स विग्गहं च। परोप्पराणं दिट्ठीओ जोडिदूण समण्णयं कुणध। अणेगंतो सियावादो च्चिय समत्थो राया जो संघस्सं णस्सिदूण जगंसि संतिं पत्थावेद। जम्मेण ण को वि सॅट्ठी, ण को वि सुद्दो। माणवस्स णेयाउयं अणेयाउयं च जीवणं उच्चणीचाणं सच्चपरिक्खा। सव्वे जीवा इच्छंति जीविदुं, ण मरिज्जिदुं। सव्वे तसंति दंडस्स। सव्वेसिं जीविदं पियं। अदो परमसुहं चिय जीवणस्स पहाणुद्देसो। धम्मे सुहं लहदि। अहिंसा परमो धम्मो। अहिंसाणुयारिणो सयलं जंग चिय ऍक्कं कुडुंबं। मेत्ती भूदेसु कप्पदे'

'धण्णो ! धण्णो !! धण्णो !!! भो सट्ठिवर, सव्वजीवाणं कल्लाणमयं एरिसं हिदोवदेसं कुणंतो को एसो मुणिवरो?'

'महाणुभाव ! एसोक्खु बालबंभयारी तवसेट्ठो सरस्सदीपुत्तो अणासत्तकम्मजोगी रठ्ठसंतो सिरिदेसभूसणायरियवरो।'

'भो सज्जण ! कुणध पसादं ममोवरि। कधमेसो महायरिओ जादो त्ति कधेसु।'

'ण समत्था मह वाणी एदस्स जीवणकज्जं वण्णिदुं। तो वि कधेमि संखेवेण तस्स दिव्वं जीवणं। सुणाहि एगगचित्तेण।

कण्णाडगविसए कोथलगगामे एगं जिणकुडुंबं वसदि। सुसावगो सच्चगोंडो तत्थ गामप्पमुहो। आकंबाभिहाणा से पदिपरायणा सुसीला भज्जा। एगम्मि सोहणे दिणे सा वरलक्खणकलिदं पुत्तं पसूदा। बालगोंडो त्ति तस्स णामं किदं। तदिए मासे बालगस्स मादा कालगदा। बालत्तणम्मि य तस्स पिदा वि कालगदो। तदो तस्स मादामही पदुमावदी बालगोंडं अदिजेहेण पालेदि तस्सोवरि सुसंखारं कुणदि य।

बालगोंडो बुद्धिमंतो सो मरहट्ठी-कण्णडीभासासु णिउणो जादो।

एगम्मि समये सिरिजयकित्ती णाम मुणिवरो वरिसावासस्स किदे कोंथलगामे आगदो। तस्संतीए बालगोंडो जिणागमं पढेदि। तस्स चित्ते धम्मभावणा जग्गिदा। सो मुणिवरेण सह सिरि सम्मेदसिहरजत्ताए गंतुं इच्छदि। पडिणियत्तिदूण विवाहं करिस्सदि त्ति आसाए पदुमावदीए दुक्खेण बालगोंडो तित्थजत्ताए विसज्जिदो।

तम्महातित्थदंसणेण तित्थगराणं दिव्वं जीवणं सुमरिदूण बालगोंडो विरत्तो जादो। तरुणजणमणाणंयारिंसि उम्मत्ततारुण्णंसि अट्ठ-दसवरिसे बालगोंडो सिरिपासणाहसिहरे सिरिजयकित्तिस्संतीए बंभचेरं पडिवज्जदि।

चदुव्विधसंघेण सह विहरंतो सिरिजयकित्तिमुणिवरो कुंथलगिरितित्थभूमीए पविट्ठो। तत्थ बंभचारी बालगोंडो तस्स मुणिवरस्स पादमूले दिगंबरमुणी जादो। तदा तस्स सिरिदेसभूसणो त्ति णाम किदं।

कमेण विहरंतो चदुविधसंघो सवणबेलगोलतित्थे आगदो। तत्थ भगवदो बालुबलिस्स सुमणोहरं भव्वं पयंडं च पडिमं दहूण परमभत्तीए सिरिदेसभूसणमुणिवरो गोम्मटेसथुदिं कुणदि—

'दियंबरो यो ण य भीदिजुत्तो,
ण यंबरे सत्तमणो विसुद्धो।
सप्पादिजंतुप्फुसदो ण कंपो,
तं गोम्मटेसं पणमामि णिच्चं।।'

अध सिरिसेदभूसणो पुणरवि तित्थजत्तं गंतुमिच्छदि। मुणिवरेणाणुमदिदो सो एगागी पादचारी गामाणुगामं विहरंतो जादि। रायचुर-गुलमग्गादिणगरेसु जवणमिलिंछादिलोगेहिं सो मुणिवरो उवइसिदो उवसग्गिदो य। सिरिदेसभूसणमुणिवरो सव्वं उवसग्गं परमसंतीए सहिदूण पसण्णहिदयेण धम्मोवदेसं कुणदि। तं सुणिदूण सव्वे जणा मुणिवरं बहुमण्णंति।

सियादवादकेसरिणा आयरियप्पवरसिरिपायसागरेण तस्स आयरियदिक्खा दिण्णा।

आयरियप्पवरो सिरिदेसभूषणो समग्गभारहे पादचारी विहरेदि। सज्झायं कादूण सो सिद्धंत-सिरोमणी जादो। विविहभासाकुसलेण आयरियवरेण णेगाणि पोत्थगाणि रइयाणि। मधुरवाणीए देसणं कादूण तेण सहस्साधिगाइं इत्थी-पुरिसाइं उद्धरियाइं। णेगठाणेसु मणहराइं जिणालयाइं कारिदूण लोगहिदक्कए आयरिएण धम्मसाला-पाठसाला-विज्जालय-महाविज्जालयाइं कारियाइं। आयरियस्स जीवणं चिय जणहिदकाए अत्थि।'

'सेट्ठिवर ! धणो हं, एरिसस्स महारट्ठसंतस्स दरिसणमहं करेमि।'

'भो महाणुभाव ! अज्ज क्खु आयरियप्पवरो जहत्थणामो देसभूसणो होदि। सो णिच्चं चिय्र विस्सधम्मस्स संदेसं देदि—

'मित्ती मे सव्वभूदेसु, वेरं मज्झ ण केणवि।'

मंदिर, मस्जिद हो या गिरजाघर

दुनिया में सर्वाधिक धर्मनिरपेक्ष है मोर-पंख

पक्षियों का राजा मोर राष्ट्रीय पक्षी होने के साथ-साथ राष्ट्रीय एकता एवं सांप्रदायिक सौहार्द का जीता-जागता उदाहरण है। भारतीय समाज में मोर के पंख का विशेष स्थान है। मोर के पंख को दुनिया में सर्वाधिक धर्मनिरपेक्ष कहा जा सकता है। मोर के पंख मंदिर, मस्जिद तथा गिरजाघरों में बिना किसी भेदभाव के समान रूप से इस्तेमाल में लाए जाते हैं।

सौन्दर्य के दृष्टिकोण से देखें तो सृष्टि के सभी जीवों में मादा नर से अधिक खूबसूरत होती है। परन्तु मोर में मादा से कहीं अधिक आकर्षक होता है नर, जिसे अपवाद के रूप में देखा जा सकता है। वैसे एक पौराणिक कथा के अनुसार जब देवराज इन्द्र एक यज्ञ के दौरान लंकेश से भयभीत होकर मोर का रूप धारण कर बच निकलने में कामयाब हो गए, तभी से उन्होंने प्रसन्न होकर अपने पंखों की सुंदरता मोर-पंखों को प्रदान कर दी। इसप्रकार नीले, बैंगनी, हरे धानी व हल्के लाल रंगों के समन्वय से 'मयूर' आम लोगों के आकर्षण का केन्द्रबिन्दु बन गया।

मोर सबसे अधिक संख्या में राजस्थान में पाए जाते हैं। इनकी संख्या गुजरात, असम में भी कम नहीं। पक्षी विशेषज्ञों के अनुसार भारत ही इनका मूलस्थान रहा है। मोर के सौंदर्य से मुग्ध होकर कई साहित्यकारों ने अपनी रचनाओं में मोर के सौन्दर्य-बोध का प्रतीक रूप में वर्णन किया है। मोर के सौन्दर्य में चार चांद लगाते हैं मोर-पंख। मोर की चार फुट लम्बी रंगीन पूंछ में हरे रंग के ढेर सारे पंख पाये जाते हैं।

मोर-पंख का सौंदर्य इसके सिर पर बने रंग-बिरंगे गोलकों के कारण है, जिन्हें 'चन्द्रक' या 'मेचक' भी कहते हैं। चन्द्रक के मध्य में गहरे नीले रंग का हृदयाकार एक गोलक होता है और उसके चारों ओर चार चक्र होते हैं। पहला चक्र गहरे नीले हरे रंग का, दूसरा अधिक चौड़ा चक्र सुनहरे कांसे के रंग का, तीसरा बहुत छोटा चक्र सुनहरे रंग का और चौथा भूरे रंग का होता है। चन्द्रक का सुनहरा रंग सबसे अधिक ध्यान आकृष्ट करता है।

मोर-पंख जहाँ एक ओर मोर की सुन्दरता का अहम् हिस्सा है, वहीं इन पंखों का

इस्तेमाल लोग विविध रूपों में करते आ रहे हैं। एक मान्यता के अनुसार सर्पदंश से पीड़ित व्यक्ति को यदि मोर-पंख की चिलम भरकर पिला दी जाए, तो रोगी बच जाता है। घरों में मोर-पंख रखने से सांप व छिपकली घर में नहीं आते। इसके अतिरिक्त आयुर्वेदिक दवाओं में भी इनका प्रयोग होता है।

इसे ड्राईंगरूम में सजावट-हेतु भी इस्तेमाल किया जाता है। विदेशों में मोर-पंख का इस्तेमाल सजावटी वस्तुयें बनाने में किया जाता है। अमरीका एवं यूरोपीय देशों के साथ-साथ पूर्वी क्षेत्रों में भी मोर-पंखों की काफी खपत होने लगी है। मोर-पंख के निर्यात में राजस्थान सबसे आगे है। अन्य निर्यातक राज्य उत्तर प्रदेश, बिहार, पंजाब आदि हैं।

राजस्थान में मोर-पंखों के धंधे से 'खटीक' जाति के लोग काफी अरसे से जुड़े हैं। जंगलों में प्राय: पशुओं को चराते हुए लड़के-लड़कियाँ व बड़े-बूढ़े अक्सर गिरे पड़े मोर पंखों को चुनते नजर आते हैं। कुछ लोगों को ये पंख बड़े शहरों की ओर ले जाते हुए भी देखा जा सकता है। यह क्रम सितम्बर से दिसम्बर तक अधिक चलता है। ऐसा शायद इसलिए भी है कि इसी समय मोर अपने पुराने पंखों को गिराता है, जो एक प्राकृतिक प्रक्रिया है।

मोर-पंख एकत्रित करने के कई तरीके हैं। एक तो ग्रामीण स्वयं इन्हें चुनकर इकट्ठा करते हैं और बाद में जोधपुर, बीकानेर, जयपुर, जैसलमेर आदि जगहों पर खटीकों के हाथों बेच देते हैं। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि 'फेरी' वाले गाँवों से मोर-पंख सामान के बदले ले लेते हैं। खटीक जाति के लोग इन लोगों के माध्यम से इन्हें खरीदने के अतिरिक्त मोर-पंखी मंडी में खरीदते हैं। 5 रुपये से 10 रुपये प्रति हजार पंखी का रेट अमूमन रहता है, जो बोली के लिहाज से घटता एवं बढ़ता है। मोर-पंखी की कीमत विभिन्न प्रकार के पंखों पर निर्भर करती है।

क्वालिटी के अनुसार मोर-पंखों को तीन भागों में बाँटा गया है। पहला 'चंदा', जिनमें सभी पंखों पर आँख का निशान होता है। दूसरा 'समछड़' यानी कटा हुआ, जिसमें पंख तो चंदा जैसे ही होते हैं, पर इनमें रंगीन आँखें नहीं होती। तीसरे को इनकी भाषा में 'तलवार' कहते हैं, यह मोर की पीठ पर तलवारनुमा होते हैं तथा इनका रंग गहरा धानी व सुनहरा होता है। इन पर आँख नहीं होती। सबसे महंगा इनका 'चंदा' होता है, जो 70 से 100 रुपये प्रति हजार में बिकता है, जबकि 'समछड़' व 'तलवार' प्राय: 20 और 15 रुपये प्रति हजार मिल जाते हैं।

लम्बाई के अनुसार पंखों की छंटनी की जाती है। 20 से 50 ईंच तक लम्बे पंखों को सबसे अच्छा माना जाता है। इनमें कीड़े न लगें, इसके लिए पाउडर छिड़का जाता है। फिर पोलीथीन बैग में सीलकर बोरे में पैक कर लिया जाता है। मोर के पंख लगभग दो मीटर तक लम्बे हो सकते हैं। पंख की डंडी का एक पृष्ठ चिकना, चमकीला होता

है। इसे 'चट' कहते हैं। पिछला हिस्सा 'टोटा' कहलाता है। पूर्ण विकसित मोर चँदवे वाले 140 पंख होते हैं। एक पंख दो-तीन ग्राम का होता है। एक मोर के कुल पंख 250 ग्राम से अधिक वजन के नहीं होते। विश्व के कई देशों में भारत से लाखों रुपये के मोर-पंखों का निर्यात भी किया जाता है।

मोर-पंखों के अनेक उपयोग हैं। आज शृंगार और पूजा-पाठ सहित औषधि के रूप में मोर-पंखों का प्रयोग किया जाता है। देवी-देवताओं पर मोर-पंख चढ़ाये जाते हैं। भूटान और लद्दाख के बौद्ध-विहारों में देव-प्रतिमाओं के आगे दायें-बायें गुलदानों में मोर-पंख रखे जाते हैं। मोर के पंखों से देवताओं पर चंवर ढुलाए जाते हैं। नारायण श्रीकृष्ण के मुकुट की शोभा भी मोर-पंख ही था। बच्चे अपनी पुस्तकों में मोर का चन्दवा रखते हैं।

शृंगार के विभिन्न उपयोगों में मोर पंख के विविध भाग काम में आते हैं। कई क्षेत्रों में आदिवासी महिलायें मोर-पंखों से अपना शृंगार करती हैं और इनके गहने बनाकर शरीर के विभिन्न भागों में धारण करती हैं। 'गोपाष्टमी' और 'दीपावली' पर पशुधन का शृंगार मोर-पंख से किया जाता है।

परम्परागत दवाओं में मोर-पंख के अनेक उपयोग हैं। मोर-पंख को विशेष विधि से जलाकर बनाई गई मयूर-पिच्छ-भस्म आयुर्वेदिक औषधि के रूप में अनेक रोगों में लाभकारी मानी गयी है। मोर का चंदा जख्मों पर तथा जले हुए स्थान पर बांधने से दर्द मिट जाता है। हमारे देश के कुछ भागों में आज भी बच्चे को मोर पंख से हवा करके उनकी नजर उतारी जाती है। कुछ लोग बुरी नजर से अपने बच्चों को बचाने के लिए बच्चों के गले में मोर-पंख बांध देते हैं। कहा जाता है कि यह कुदृष्टि का प्रभाव अपने ऊपर ले लेता है। *—(साभार उद्धृत पंजाब केसरी, दैनिक, 3 अक्तूबर 2000)*

❖❖

राज्यशासन की कठिनता

"तपसा हि समं राज्यं, योगक्षेमप्रपञ्चतः।
प्रमादे सत्यधःपातादन्यथा च महोदयात्।।"

—(आचार्य वादीभसिंह, क्षत्रचूडामणि, 11/8)

अर्थ :— राज्य करना तपस्या करने के समान है, क्योंकि इसमें योग की कुशलता के लिए निरन्तर सावधान रहना पड़ता है। यदि जरा भी प्रमाद (लापरवाही) हो जाये, तो तत्काल अधःपतन हो जाता है; और सावधानी रखी जाये, तो महान् अभ्युदय हो सकता है। **

भारतीय सांस्कृतिक व भाषिक एकता

—श्रीमती स्नेहलता ठोलिया

सिन्धुघाटी की सभ्यता से पूर्व के भारत की कहानी अत्यन्त धुंधली और अन्धकारपूर्ण है; परन्तु अब मोहनजोदड़ो, हड़प्पा की खुदाइयों में जिस सभ्यता के अवशेष मिले हैं, उनसे प्रमाणित होता है कि ऋग्वेदकाल से सदियों पूर्व 'सिन्ध के काठे' में मानव-केन्द्रों की सभ्यता व संस्कृति उच्चकोटि की थी।[1] 'मोहनजोदड़ो' के खंडहरों से प्राप्त योगीश्वर ऋषभ की कायोत्सर्ग-मुद्रा तथा वैदिक वाङ्मय में वातरशना मुनियों, केशी और व्रात्य-क्षत्रियों के उल्लेख आये हैं, जिनसे यह स्पष्ट है कि पुरुषार्थ पर विश्वास करनेवाले धर्म के प्रगतिशील व्याख्याता तीर्थंकर प्रागैतिहासिक काल में भी विद्यमान थे।[2] निवृत्ति व अवसाद भी भारत की सनातन परम्परा में विद्यमान थे।[3] असंख्य मुहरों पर उभरी आकृतियों के प्रमाण से विदित होता है कि सैन्धवों में 'वृषभ' समादृत था।[4] अब सभी इतिहासकार मानने लगे हैं कि इस सैन्धव-सभ्यता के निर्माता प्राग्वैदिक द्रविड़ थे।

"द्रविड़ों के बाद आर्यजाति ने आते ही अपने पराक्रम, कूटनीति और बुद्धिबल के कारण इनको स्वायत्त कर लिया।[5] आर्यों ने इनको अनार्य, अदेवयु (वैदिक देवताओं के प्रति उदासीन), देवपीयु (उनके विरोधी), अयज्वन (यज्ञ न करनेवाले), अकर्मन् (क्रियानुष्ठानों से रहित), शिश्नदेवा (लिंगपूजक), अन्यव्रत, म्रघृवाक् (अबूझ बोली बोलनेवाली) आदि संज्ञायें दी।[6] पाणिनी जैसे पुरोहितों ने 'श्रमण-ब्राह्मण संघर्ष' का उल्लेख 'शाश्वतिक विरोध' के उदाहरण के रूप में किया।[7] चूँकि आर्य भारत पहुँचने के पूर्व अधिकतर घुमक्कड़ और मनमौजी जीव रहे थे, अतः प्रकृति के सौन्दर्य पर चकित हो प्रवृत्ति व आशावाद के स्वर से सारे समाज को पूर्ण कर दिया।[8] किन्तु वैदिक आशावाद और उत्साह की प्रबलता चिरस्थायी नहीं रह सकी और जो लोग उत्साह की ऋचायें रचते थे, वे स्वयं ही 'अवसाद का गीत' गाने लगे।[9]

आगे जब आर्यों का यज्ञवाद 'भोगवाद' का पर्याय बनने लगा और आमिषप्रियता से प्रेरित कुछ लोग जीवहिंसा को धर्म मानने लगे; तो इस देश की संस्कृति यज्ञ और जीवघात —दोनों से विद्रोह कर उठी। तीर्थंकर महावीर व बुद्ध इस संस्कृति के उद्घोषक रहे। यदि आर्यों का यज्ञवाद खुल्लमखुल्ला जीवहिंसा को औचित्य प्रदान नहीं करता तथा यदि

कुछ लोग धर्म को अपनी भोगलोलुपता का साधन नहीं बनाते; तो वैदिकधर्म के प्रति उठनेवाले विद्रोह कटुता तक नहीं पहुँचते और ना ही उसे जैन व बौद्धमत की निवृत्तिपरक विचारधारा से उतनी शक्ति प्राप्त हुई होती।[10]

हमारे समाज की बहुत-सी रीतियाँ तथा धर्म के बहुत से अनुष्ठान ऐसे हैं, जिनका उल्लेख वेदों में नहीं मिलता। उनके बारे में विद्वानों का मत है कि उनका विकास आर्य व आर्येतर दोनों संस्कृतियों के मूल से हुआ है।"[11] चूँकि भाषा का सम्बन्ध मानव से है, अतः उसका सीधा सम्बन्ध उसकी संस्कृति से भी है। संस्कृति के विकास से भाषा में भी विकास होता है। विकास की इस अविदित गति से भाषा का एक इतिहास हो जाता है, जिससे उस भाषा में लिखे साहित्य के द्वारा हम अपने समाज की परिवर्तनशील प्रवृत्ति का ही नहीं, अपितु संस्कृति का भी परिचय पाते हैं।

"सिन्धु-सभ्यता के नागरिक एक लेखन-शैली का प्रयोग करते थे और कला में दक्ष थे।[12] किन्तु उस प्राचीन भारत की मूलभाषा या बोली का क्या रूप था —यह स्पष्ट नहीं है। **उस युग में भी कोई जनभाषा अवश्य थी और यह जनसाधारण में बोली जानेवाली साहित्यिक पाश से मुक्त 'प्राकृत' ही थी।**[13] "बाद में आर्यों ने यज्ञपरायण संस्कृति के प्रसार, प्राकृतिक शक्तियों के पूजन, देवत्व-विषयक भावनाओं के अभिव्यंजक एवं बौद्धिक चिन्तन से सम्बद्ध विपुल साहित्य का निर्माण किया, जो वेद की भाषा के रूप में 'छान्दस्' कहलायी।[14] पाणिनी जैसे पुरोहितों को भय था कि उनकी पवित्र भाषा में कहीं दूसरी देशज भाषाओं के असंस्कृत शब्द न घुस आयें, इसलिये उनके द्वारा 'छान्दस्' का भी परिष्कार किया गया, जिससे नई भाषा 'संस्कृत' का आर्विभाव हुआ।[15] इसके भी पद, वाक्य, ध्वनि एवं अर्थ —इन चारों अंगों को विशेष अनुशासनों में आवद्ध कर दिया।[16] तथा संस्कृत के सामान्य मानदण्ड से जो शब्दच्युत थे, उनके लिए 'अपभ्रंश' या 'अपभ्रष्ट' शब्द का प्रयोग किया।[17] पाणिनी का जन्म गान्धार में 'शालातुर' गाँव में तथा शिक्षा 'तक्षशिला' में सम्पन्न हुई थी। दोनों ही स्थान उदीच्य प्रदेश में होने के कारण परिनिष्ठित भाषा 'उदीच्य विभाषा' के नाम से जानी जाती थी। यह वही भाषा है, जिसे आधार मानकर महर्षि पाणिनि ने 'अष्टाध्यायी' की रचना की और संस्कृतभाषा की आधारशिला को दृढ़ बनाया।[18] ब्राह्मण, आरण्यक व उपनिषद्-साहित्य भी इसी विभाषा में लिखा गया है। 'छान्दस्' में जो जनतत्त्व समाविष्ट थे, वे अनुशासित किये जाने पर भी सर्वथा परिमार्जित नहीं हो पाये और उनका विकास होता रहा; फलतः **'छान्दस्' का मौलिक विकसित रूप 'प्राकृत' कहलाया।**[19] यही प्राकृत 'प्राच्य' उपभाषा के नाम से जानी जाती थी। इसमें 'द्राविड़' एवं 'मुण्डा' भाषा के तत्त्वों का पूर्ण मिश्रण था। इस भाषा को बोलनेवाले ऐसे लोग थे, जिनका विश्वास यज्ञीय संस्कृति में नहीं था, ये 'व्रात्य' कहलाते थे। बुद्ध और महावीर इन्हीं व्रात्यों में से थे। इन दोनों ने परिनिष्ठित उदीच्य

भाषा के आधिपत्य को हटाकर उसके विप्रत्व और शिष्टत्व के वर्तुल से निकलकर जनभाषा या मातृभाषा प्राकृत में ही अपने उपदेश दिये।[20] जो बालक, महिला आदि को सुबोध सहजगम्य है और सकल भाषाओं का मूल है, यह प्राकृतभाषा है।[21] यह भी ज्ञातव्य है कि 'पुष्पदन्त' और 'भूतबलि' नामक दोनों आचार्यों ने द्रविड़ देश में जाकर 'षट्खण्डागम' के सूत्रों की रचना इसी प्राकृतभाषा **प्राचीन शौरसेनी** में की। इसके पश्चात् तो कुन्दकुन्द आदि आचार्यों ने इस भाषा को सार्वभौमिकता प्रदान की। इसप्रकार दिगम्बर जैन आगम-ग्रन्थों की यह मूलभाषा बन गयी।[22]

संस्कृत का रूप स्थिर हो जाने पर उसकी कठिनता के कारण जन समाज की भाषा अपने ही क्षेत्र में उन्नति करती गयी। उसके बाद उसका सर्वप्रथम रूप हमें अशोक के शिलालेखों तथा बौद्ध और जैनधर्म ग्रन्थों में मिलता है। प्राचीन प्राकृत को 'पाली' नाम भी दिया गया है। 'पाली' में भी साहित्यिक गांभीर्य आने के कारण उसी के साहचर्य से निकली हुई साधारण भाषा हमारे सामने मध्यकालीन प्राकृत के विशिष्ट रूप में आती है।[23] भरत के समय तीसरी शताब्दी ई०पू० में यही लोकभाषा स्पष्ट पृथक् स्वीकृत भाषा हो गयी।[24] संस्कृत पण्डितों के अनुसार प्राकृतभाषा 'असंस्कृत भाषा' के रूप में कही गयी। इस साहित्यिक प्राकृत के भी मुख्यरूप से पाँच भेद हैं—

1. शौरसेनी — यह मूलत: मथुरा या शूरसेन प्रदेश की बोली थी।
2. पैशाची — यह भारत के पश्चिमोत्तर प्रदेश की बोली थी।
3. मागधी — यह देश के पूर्वीभाग अर्थात् मगध प्रदेश की भाषा है।
4. अर्धमागधी — यह मागधी और शौरसेनी के बीच के भाग की भाषा थी, श्वेताम्बर जैन आगमों की अर्धमागधी में इसका स्वरूप अधिक कृत्रिम कर दिये जाने से यह लोकभाषा नहीं बन सकी।
5. महाराष्ट्री प्राकृत — यह शौरसेनी का परवर्ती विकसित रूप है।[25]

"जब साहित्य का निर्माण इन प्राकृतों में होने लगा और वैयाकरणों ने इन्हें व्याकरण के कठिन नियमों में बांधना प्रारम्भ कर दिया, तो जनसाधारण की भाषा में इस साहित्यिक प्राकृत से फिर अन्तर होना प्रारम्भ हो गया। जिन बोलियों के आधार पर प्राकृतभाषाओं का निर्माण हुआ था, वे अपने स्वाभाविक रूप में विकसित हो रहीं थीं तथा प्राकृत की साहित्यिकता से निकलने का प्रयत्न कर रहीं थीं। तभी प्राकृत के वैयाकरणों ने उसे हीनदृष्टि से देखते हुए 'अपभ्रंश' नाम दे दिया। वैयाकरणों ने तो अपने व्याकरण के सिद्धान्त से इसे भ्रष्ट हुई साबित किया; पर वस्तुत: यह 'अपभ्रंश' प्राकृत की विकसित अवस्था का ही नाम है। मार्कण्डेय के विचार से मुख्य 3 अपभ्रंश भाषायें हैं— नागर, ब्राचड, उपनागर। प्राकृत में शौरसेनी प्राकृत की तरह अपभ्रंश में 'नागर अपभ्रंश' का स्थान महत्त्वपूर्ण है। 'नागर अपभ्रंश' मुख्यत: गुजरात में बोली जाती थी, 'ब्राचड़'

सिन्ध में तथा 'उपनागर' सिंध के बीच के प्रदेश में पश्चिम राजस्थान और दक्षिण पंजाब में बोली जाती थी।[26] छठी शताब्दी में अपभ्रंश का स्वर्णकाल प्रारम्भ हुआ, जिसमें उच्च साहित्य की रचना प्रारम्भ हुई। परिनिष्ठित अपभ्रंश भाषा दसवीं शताब्दी तक प्रचलित रही, उसके बाद दसवीं शताब्दी से इस भाषा ने अनेक शाखाओं में विभाजित होकर नवीन नाम धारण किये तथा अनेक स्थानों से बोले जाने वाले अपभ्रंश अनेक प्रकार की भाषाओं में परिवर्तित हो गये। प्रान्तभेद के अनुसार 'नागर' या 'शौरसेनी अपभ्रंश' से हिन्दी, गुजराती, राजस्थानी और पंजाबी का विकास हुआ। 'मागधी अपभ्रंश' से बंगला, बिहारी, आसामी और उड़िया का तथा 'महाराष्ट्री अपभ्रंश' से 'मराठी' का विकास हुआ। 'ब्राचड़' से 'सिन्धी भाषा' का जन्म हुआ।

प्रान्तभेद से तो 'नागर' या 'शौरसेनी अपभ्रंश' अनेक भाषाओं में रूपांतरित हुई, किन्तु हिन्दी के विकास में काव्य अथवा रीति के भेद से वह 2 भागों में विभाजित हुई— (1) डिंगल (2) पिंगल। 'डिंगल' राजस्थान की साहित्यिक भाषा तथा 'पिंगल' ब्रज-प्रदेश की साहित्यिक भाषा है।[27] आगे जाकर हिन्दी-साहित्य का विस्तार अनेक बोलियों में पाया जाता है। इन बोलियों के आधार पर जिसप्रकार के साहित्य की रचना हुई, वे हैं— (1) सिद्धयुग का साहित्य, (2) जैन साहित्य, (3) राजस्थानी भाषा का साहित्य, (4) ब्रजभाषा का साहित्य, (5) अवधी का साहित्य, (6) बुंदेलखण्डी साहित्य, (7) मैथिली साहित्य, (8) खड़ी बोली साहित्य।[28]

"जब अपभ्रंश में आधुनिक भाषाओं के चिह्न दृष्टिगत हुये, तो श्वेताम्बर का साहित्य अधिकतर गुजराती में लिखा गया और दिगम्बर-सम्प्रदाय का साहित्य हिन्दी आदि में।" अत: जहाँ तक हिन्दी भाषा का सम्बन्ध है, यह अपभ्रंश की साक्षात् उत्तराधिकारिणी है।[29]

इसप्रकार प्राकृतस्रोत वैदिककाल से लेकर अप्रतिहतरूप से प्रवाहित होता आ रहा है। संस्कृत को नियम और अनुशासनों के घेरे में इतना आबद्ध कर दिया गया कि जिससे उस भाषा में आवर्त्त व विवर्त की लहरें उत्पन्न न हो सकी। यही कारण है कि प्राकृत और संस्कृत दोनों के एक छान्दस् स्रोत से प्रवाहित होने पर भी एक 'समृद्ध यौवना' बनी रही और दूसरी 'कुमारी युवती'। अपभ्रंश भी 'बांझ' नहीं है। उसने भी हिन्दी बंगला, गुजराती एवं मराठी, पंजाबी, राजस्थानी आदि भाषा-सन्तानों को जन्म दिया है।[30]

इसमें सन्देह नहीं कि प्राकृत व अपभ्रंश साहित्य का विपुल भण्डार है। यह श्रेय भी जैन समाज को है, जिसने संस्कृत के साथ प्राकृत अपभ्रंश और प्रान्तीय भाषाओं के सृजन को न केवल प्रेरणा देकर महत्त्व प्रदान किया, प्रत्युत उसे सुरक्षित भी रखा; किन्तु किन्हीं कारणों से वे वृहत्तर भारतीय भाषा और साहित्य के सन्दर्भ में उसका वस्तुनिष्ठ साम्प्रदायिक साहित्य नहीं, बल्कि देश की मुख्यधारा से जुड़ा हुआ साहित्य है।[31]

परवर्ती अन्य भारतीय आर्यभाषाओं के साथ अपभ्रंश का घनिष्ठ सम्बन्ध होते हुये भी

यह सच है कि इस भाषा एवं साहित्य की उपेक्षा हुई है। और इस उपेक्षा के कारण ही हिन्दी भाषा (खड़ी बोली) की उत्पत्ति और उसके साहित्य की विधाओं के स्रोत का प्रश्न दिग्भ्रम में पड़ा हुआ है। प्रत्येक प्रश्न का हल नया प्रश्न बन जाता है।[32]

हिन्दी-मुख्यधारा के प्रथम सृष्टा अपभ्रंश के कवियों को विस्मरण करना हमारे लिए बहुत हानिकारक है। विद्यापति, कबीर, सूर, जायसी व तुलसी —ये उज्जीवक व प्रथम प्रेरक रहे हैं।[33] हमारे मध्यकालीन कवियों ने अपना नाता सिर्फ संस्कृत के कवियों से जोड़े रखा, जिससे हिन्दी-साहित्य के ऐतिहासिक विकास की यह महत्त्वपूर्ण कड़ी काव्य-परम्परा से टूटकर अलग जा पड़ी। बीच की पाँच सदियों के अपभ्रंश काव्यों का थोड़ा-सा भी अनुशीलन हमें लाभ ही पहुँचायेगा।[34] अत: वृहत्तर भारतीय संस्कृति और उसके गतिशील मूल्यों को समग्रतर अध्ययन तभी संभव है; जब संस्कृत, प्राकृत व अपभ्रंश तथा सभी लोकभाषाओं के साहित्य का भी अध्ययन हो।

भारत में बसनेवाली कोई भी जाति यह दावा नहीं कर सकती कि भारत के समस्त मन और विचारों पर उसी का एकाधिकार है। भारज आज जो कुछ है, उसकी रचना में भारतीय जनता के प्रत्येक भाग का योगदान है। यदि हम इस बुनियादी बात को नहीं समझ पाते हैं, तो फिर हम भारत को भी समझने में असमर्थ रहेंगे। और यदि हम भारत को नहीं समझ सके, तो हमारे भाव-विचार और काम सब के सब अधूरे रह जायेंगे और हम देश की ऐसी कोई सेवा नहीं कर सकेंगे, जो ठोस और प्रभावपूर्ण हो।[35]

आर्यों को भारतभूमि का आदि-निवासी और एकाधिकारी मानना या उन्हें ही केवल हिन्दूधर्म तथा हिन्दू-संस्कृति का एकमात्र निर्माता स्वीकार करना कदाचित् उपयुक्त न होगा। संस्कृति, साहित्य और कला के क्षेत्र में जितना भी उत्तराधिकार आज भारत को उपलब्ध है, उसके निर्माण और अभ्युत्थान में आर्येतर जातियों का उतना ही हाथ रहा है, जितना कि आर्य-जाति का।[36]

सन्दर्भ-सूची :—

1. सन्दर्भ सं० 1, 4, 6, 12 डॉ० रमाशंकर त्रिपाठी, 'प्राचीन भारत का इतिहास', पृ०सं० क्रमश: 14, 31, 24, 31।
2. सन्दर्भ सं० 2 डॉ० नेमिचन्द्र शास्त्री ज्योतिषाचार्य, 'तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा', भाग 1, पृ० 3।
3. सन्दर्भ सं० 3, 7, 8, 9, 10, 11, 35 रामधारी सिंह दिनकर, 'संस्कृति के चार अद्याय', पृ०सं० क्रमश: 72, 58, 70, 72, 71, 86 प्रस्तावना 16।
4. सन्दर्भ सं० 5, 36 वाचस्पति गैरोला, 'संस्कृत साहित्य का इतिहास', पृ० क्रमश: 26, 27।
5. सन्दर्भ सं० 13, 15, 26, 27, 28 डॉ० रामकुमार वर्मा, 'हिन्दी साहित्य का

आलोचनात्मक इतिहास, पृ० क्रमश: 44, 45, 46-47, 48-49, 42-43।

6. सन्दर्भ सं० 14, 16, 18, 19, 20, 21, 22, 30 नेमिचन्द्र शास्त्री, 'प्राकृतभाषा और साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास', पृ० क्रमश: 2, 10, 5, 10, 5, 14, 44, 10।
7. सन्दर्भ सं० 17 पुरुषोत्तम प्रसाद आसोपा, 'आदिकाल की भूमिका', पृ० 13।
8. सन्दर्भ सं० 24 वीरेन्द्र श्रीवास्तव, 'अपभ्रंश भाषा का अध्ययन', पृ० 5।
9. सन्दर्भ सं० 25, 29 डॉ० शम्भूनाथ पाण्डेय, 'अपभ्रंश और अवहट्ट' : एक अंर्न्तयात्रा, पृ० क्रमश: 21-22, 4।
10. सन्दर्भ सं० 31, 32 डॉ० देवेन्द्र कुमार जैन, 'रिट्ठणेमिचरिउ' प्राक्कथन, पृ०सं० क्रमश: 10, 11, 12।
11. सन्दर्भ सं० 33, 34 राहुल सांकृत्यायन, 'हिन्दी काव्यधारा', अवतरणिका, पृ० 12, प्रारम्भ में मुख्य पृष्ठ।

❖❖

गाथा छंद एवं उसकी पठन-विधि

आचार्य कुन्दकुन्द ने अपने ग्रंथ गाथा छंद में रचे हैं, जिसे संस्कृत में आर्या छन्द भी कहते हैं। इसमें प्रथम चरण में बारह, द्वितीय चरण में अट्ठारह, तृतीय चरण में पुन: बारह तथा चतुर्थ चरण में पन्द्रह मात्रायें होती हैं। इसी परिमाण में यह छंद लिखा जाता है और उसे 'आर्या भार्याप्रिया' के अनुसार स्त्रियों के लिये प्रिय छंद माना गया है। जैसे स्त्रियाँ कोमल स्वभाव की होती हैं, उसीप्रकार यह छंद भी कोमलकान्त पदावली से युक्त एवं आसानी से गाने योग्य होता है। इस छंद को गाने के बारे में शास्त्रों में दिशानिर्देश दिये गये हैं, उनके अनुसार इस छंद की पहली बारह मात्रायें हंस पक्षी की चाल में पढ़ी जानी चाहियें, दूसरे चरण की अट्ठारह मात्रायें जैसे सिंह दहाड़ता हो ऐसे जोश में पढ़ी जानी चाहियें; इसके बाद की बारह मात्राओं को हाथी जैसी गम्भीर चाल में पढ़ना चाहिये तथा अंत की पन्द्रह मात्राओं को सर्प के समान चाल में पढ़ना चाहिये। इन सब प्रतीकों का बहुत मार्मिक अर्थ भी छन्द:शास्त्रियों ने प्रतिपादित किया है, वे लिखते हैं कि हंस पक्षी नीर-क्षीर-विवेक का प्रतीक होता है अत: भेदविज्ञानपरक दृष्टि से प्रथम चरण की बारह मात्रायें पढ़नी चाहिये। भेदविज्ञान दृष्टि मिलने के बाद व्यक्ति में पुरुषार्थ की प्रधानता आ जाती है, अत: सिंह के समान शूरवीर होकर दूसरे चरण की अट्ठारह मात्रायें पढ़ना चाहिये। इसके बाद व्यक्ति में गम्भीरता आ जाना स्वाभाविक है, अत: दूसरों के आक्षेपों से अप्रभावित हाथी के समान मदमस्त चाल में तीसरे चरण की बारह मात्रायें पढ़ी जानी चाहिये और सर्प की चाल इस बात का प्रतीक है कि वह सारी दुनिया में टेढ़ा-मेढ़ा भले ही चलता है, किन्तु अपने बिल में वह सीधा होकर ही प्रवेश करता है। इसीप्रकार इस छंद का चतुर्थ चरण कुटिलवृत्ति छोड़कर सरलवृत्ति के द्वारा आत्मध्यान की भावना से पढ़ा जाना चाहिये। ❋❋

एक मननीय समीक्षा

दिगम्बर-जैन-संप्रदाय का महान् ग्रंथ 'समयसार' जैन-परंपरा के दिग्गज आचार्य कुन्दकुन्द द्वारा रचा गया है। दो हजार वर्षों से आज तक दिगम्बर-साधु स्वयं को कुन्दकुन्दाचार्य की परंपरा का कहलाने में गौरव अनुभव करते हैं।

आज से लगभग दो हजार वर्ष पूर्व विक्रम की प्रथम शताब्दी में कौण्डकुन्दपुर (कर्नाटक) में इनका जन्म हुआ। माता-पिता ने इनका क्या नाम रखा, यह तो ज्ञात नहीं; लेकिन इनके कई नाम प्रचलित हैं— वक्रग्रीव, एलाचार्य, पद्मनन्दि, गृद्धपिच्छ इत्यादि। जो नाम लोकप्रिय हुआ— कुन्दकुन्द, उसका कारण यह होगा कि वे कोण्डकुन्दपुर के निवासी थे। कवि की काव्यात्मक दृष्टि से देखें, तो चन्द्रगिरि का एक शिलालेख कहता है:— कुन्द-पुष्प के समान धवल प्रभा होने से इन्हें यह नाम प्राप्त हुआ। विंध्यगिरि शिलालेख में उनका वर्णन और भी सुन्दर है :— "यतीश्वर कुन्दकुन्द मानों धूल से भरी धरती से चार अंगुल ऊपर चलते थे। क्योंकि वे अन्तर-बाह्य धूल से मुक्त थे।"

चौदहवीं शताब्दी तक आचार्य कुन्दकुन्द की महिमा इतनी वृद्धिंगत हो गई थी कि उस समय के कवि वृन्दावनदास को कहना पड़ा कि **"हुए हैं, न होहिंगे; मुनिन्द कुन्दकुन्द से।"**

भगवान् महावीर की श्रुत-परंपरा में गौतम गणधर के साथ केवल कुन्दकुन्दाचार्य का ही नाम आता है। अन्य सभी आचार्य 'आदि' शब्द में सम्मिलित किए जाते हैं। भगवान् महावीर की अचेलक-परंपरा में आचार्य कुन्दकुन्द का अवतरण उस समय हुआ जब उसे उनके जैसे तलस्पर्शी एवं प्रखर प्रशासक आचार्य की आवश्यकता थी। **यह समय श्वेताम्बर-मत का आरंभ-काल ही था।** उस समय बरती हुई किसी भी प्रकार की शिथिलता भगवान् महावीर के मूलमार्ग के लिए घातक सिद्ध हो सकती थी। आचार्य कुन्दकुन्द पर दो उत्तरदायित्व थे :— एक तो अध्यात्म-शास्त्र को व्यवस्थित लेखनरूप देना और दूसरा, शिथिल-आचार के विरुद्ध सशक्त आन्दोलन चलाना। दोनों ही कार्य उन्होंने सामर्थ्यपूर्वक किये। कुन्दकुन्दाचार्य की ग्रंथ-संपदा बड़ी है। उन्होंने लगभग आधा दर्जन ग्रंथ लिखे, जिनमें समयसार (जिसका मूल नाम है— समयपाहुड) सर्वाधिक प्रभावशाली रहा।

कुन्दकुन्दाचार्य के एक हजार वर्ष बाद 'समयसार' पर आचार्य अमृतचन्द्रदेव ने संस्कृत में गंभीर टीका लिखी, जिसका नाम है 'आत्मख्याति'। समयसार का मर्म जानने के लिए आज इसे टीका का आश्रय लिया जाता है। समयसार की प्रशंसा करते हुए वे इसे 'जगत् का

अद्वितीय चक्षु' कहते हैं। उनका मानना है कि 'समयसार से श्रेष्ठ कुछ भी नहीं है।'

समयसार की सर्वप्रथम गाथा-भारत की प्राचीन-परंपरा के अनुसार, मंगलाचरण की है। यह एक खूबसूरत रिवाज था, जो सभी प्राचीन भारतीय शास्त्रों में पाया जाता है। अपनी बात शुरू करने से पहले उस विषय में पारंगत पूर्व सिद्धों और ज्ञानीजनों को प्रणाम करके उनके आशीर्वाद की छाया में लेखक मार्गस्थ होते हैं। कुन्दकुन्दाचार्य भी उसी का निर्वाह करते हैं। वे यह भी कहते हैं कि "श्रुतकेवलियों (गणधर) द्वारा कथित समयपाहुड को मैं आप तक पहुँचा रहा हूँ।" आज के अहंकारी-युग में यह वक्तव्य चिंतन-मनन करने जैसा है। इतने महान् ग्रंथ की रचना को प्रारंभ करते हुए, जिसे दो हजार वर्षों का अंतराल धूमिल न कर सका, लेखक इतना विनम्र है कि खुद इस विशाल कार्य का कर्ता बनना नहीं चाहता। वे केवल इस ज्ञान के वाहक हैं।

इसके पश्चात् वे दूसरी ही गाथा में समय की परिभाषा करते हैं जो कि पीछे हमने देखी। पूरे ग्रंथ के अंत में आचार्य चेतावनी और एक प्रलोभन भी देते हैं : जो इस 'समयपाहुड' के वचनों को पढ़कर उसके अर्थ को अनुभव भी करेगा वह उत्तम सौख्य को प्राप्त होगा। बात स्पष्ट है, समयसार केवल दर्शन नहीं है, वह एक दृष्टि है, अनुभवजन्य कथन है, जो इसलिए कहा गया है, ताकि इसे पढ़कर दूसरे भी उसी अनुभव को उपलब्ध हों। वास्तव में समयसार को पुनरुज्जीवित करना हो, तो उसके शब्दों की प्राचीनता की धूल झाड़कर उन्हें सद्यःस्नात, तरोताज़ा बनाना आवश्यक है।

कुन्दकुन्दाचार्य का ही प्रतीक लें, तो वे कहते हैं :— "स्वर्ण को कितना ही तपाओ, उसका स्वर्णत्व खोता नहीं", उसीप्रकार कर्मों की आग में तपकर भी ज्ञानी अपना ज्ञान खोता नहीं है। ज्ञानी के शब्दों में भी उसके ज्ञान का स्वर्ण भरा हुआ है। उसे आग से क्या भय ?

कुन्दकुन्दाचार्य के एक हजार साल बाद आचार्य अमृतचन्द्र देव ने 'अमृतख्याति' टीका लिखकर समयसार को समसामायिक बनाया। उनकी अभिव्यक्ति आधुनिक मनुष्य से अधिक निकट है, बजाए स्वयं कुन्दकुन्दाचार्य के। आज फिर से एक हजार साल बाद उसे पुनःनवीन करने की आवश्यकता है। इस ग्रंथ को पढ़नेवाला कम से कम कुन्दकुन्दाचार्य का अंतिम संदेश ही समझ ले, तो समयसार समसामायिक हो सकेगा। "जो भव्य जीव इस ग्रंथ को वचनरूप से तत्त्वरूप से जानकर उसके अर्थ में स्थित होगा वह उत्तम सौख्य को प्राप्त होगा।"

जैनियों द्वारा निर्मित की हुई यह श्रेष्ठतम पुस्तक है। कुन्दकुन्द बुद्धपुरुष थे। वे पुनः पैदा नहीं हो सकते। समयसार का अर्थ है :— सार-सूत्र। अगर कभी कुन्दकुन्द का समयसार तुम्हें मिला, तो उसे दाहिने हाथ में पकड़ना, बायें हाथ में नहीं। यह दाहिने हाथ की पुस्तक है— हर तरह से दाहिनी।

—(ओशो टाइम्स, मार्च 2001, पृष्ठ 41-43 पर प्रकाशित डॉ० भारिल्ल-कृत 'समयसार अनुशीलन' की समीक्षा से साभार उद्धृत मननीय अंश)

पुस्तक-समीक्षा

(1)

पुस्तक का नाम : पज्जुण्णचरिउ (प्रद्युम्नचरित)
मूल लेखक : महाकवि सिंह
सम्पादन एवं अनु० : प्रो० (डॉ०) विद्यावती जैन
प्रकाशक : भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली
संस्करण : प्रथम, 2000 ई०
मूल्य : 300/- (शास्त्राकार, पक्की बाइंडिंग, लगभग 512 पृष्ठ)

आज प्राचीन आचार्यों एवं मनीषियों की रचनाओं का अनुसन्धान करके उन पर प्रामाणिक सम्पादन, अनुवाद कार्य करके प्रकाशित कराने वाले ठोस विद्वानों एवं विदुषियों का प्राय: अभाव हो चला है। अपने नाम से पुस्तकें लिखकर समाज एवं प्रकाशन-संस्थानों से छपाने का ही कार्य विद्वत्ता एवं प्रकाशन के नाम पर जैनसमाज में मुख्यता से हो रहा है। ऐसे में एक अनुभवी विदुषी की पवित्र लेखनी से सम्पादित एवं अनूदित होकर आनेवाली यह रचना निश्चय ही अत्यन्त बहुमान के योग्य है।

इसका प्रकाशन विख्यात साहित्य-प्रकाशन संस्था 'भारतीय ज्ञानपीठ' ने किया है। प्रकाशन-संस्था के स्तर के अनुरूप मुद्रण व प्रकाशन नयनाभिराम एवं स्तरीय हैं। विदुषी संपादिका की अत्यंत शोधपूर्ण विशद एवं महत्त्वपूर्ण प्रस्तावना भी चित्ताकर्षक हैं, जिसमें उच्चस्तरीय अनुसंधान एवं सम्पादन के आदर्श-मानदण्डों का परिपालन स्पष्टरूप से परिलक्षित है।

विदुषी प्रो० (डॉ०) विद्यावती जैन वर्तमान जैन विदुषी-परम्परा में पाण्डुलिपियों का प्रामाणिक सम्पादन व अनुवाद करनेवाली संभवत: सर्वाधिक अनुभवी एवं सुपरिचित हस्ताक्षर हैं। उनकी लेखनी के संस्पर्श से प्रकाश में आने वाले प्राचीन अप्रकाशित साहित्य की एक यशस्वी परम्परा है, जिससे विद्वज्जगत् एवं जैनसमाज सुपरिचित है।

अपभ्रंश भाषा में रचित महाकवि सिंह की इस विशालकाय रचना का विभिन्न पाण्डुलिपियों से प्रामाणिक सम्पादन एवं शब्द-अर्थ की सुसंगति से समन्वित अनुवाद प्रस्तुत होना इस संस्करण की श्रीवृद्धि करता है।

वस्तुत: ऐसा महनीय प्रकाशन करके प्रकाशक-संस्थान की ही प्रतिष्ठा बढ़ी है। क्योंकि अनेकों जैन समाज की प्रकाशक-संस्थायें मात्र 'ट्रेक्ट' स्तर के प्रकाशन करके अपनी वाहवाही कराने की चेष्टा करती रहती हैं। जबकि भारतीय ज्ञानपीठ जैसे यशस्वी प्रकाशन की यह परम्परा है कि उसके द्वारा भारतीय वाङ्मय का अनुसंधानपूर्ण सम्पादन एवं.उसका मूलानुगामी अनुवाद तथा उच्चस्तरीय प्रकाशन किसी भी प्रकाशित कृति को गौरवान्वित करने के लिये पर्याप्त है। इस संस्थान के द्वारा ऐसे महनीय ग्रंथों के प्रकाशन की एक सुदीर्घ परम्परा है, अत: ऐसे संस्थान के द्वारा प्रकाशित होने से इस कृति की भी विद्वज्जनों में स्वत: प्रतिष्ठा बढ़ेगी तथा इसका उपयुक्त व्यक्तियों तक व्यापक प्रचार-प्रसार हो सकेगा।

पौराणिक महापुरुष प्रद्युम्न के यशस्वी जीवन-चरित्र को अतिसुन्दर ढंग से गूंथकर रची गयी यह कृति हर आयुवर्ग एवं हर स्तर के व्यक्तियों के लिये सुबोधगम्य एवं प्रेरणास्पद सिद्ध हो सकेगी —ऐसा मेरा दृढ़ विश्वास है। इसका कथानक परम्परागत नैतिक एवं आध्यात्मिक मूल्यों के साथ-साथ आधुनिक परिस्थितियों में भी बहुत प्रेरक है।

मैं विदुषी संपादिका एवं प्रकाशक-संस्थान का इस प्रकाशन के लिये हार्दिक अभिनंदन करता हूँ तथा समाज के प्रत्येक वर्ग से इसका स्वाध्याय करने की अपील करता हूँ। वस्तुत: यह प्रत्येक व्यक्ति के निजी संग्रह में रखने योग्य अनुपम रचना है। ऐसे अनुपम शोधकार्य एवं उच्चस्तरीय प्रकाशन के लिये यह संस्करण सम्पूर्ण समाज के द्वारा सम्मान के योग्य है।

—सम्पादक ✱✱

(2)

पुस्तक का नाम : Samdesarasaka of Abdala Rahamana
मूल लेखक : महाकवि अद्दहमाण (अब्दुल रहमान)
सम्पादक : प्रो० एच०सी० भयानी
प्रकाशक : प्राकृत टैक्स्ट सोसायटी, अहमदाबाद
संस्करण : प्रथम, 1999 ई०
मूल्य : 65/- (डिमाई साईज़, पेपर बैक, लगभग 120 पृष्ठ)

हिन्दी एवं अपभ्रंश के संधियुगीनकाल के महाकवि अद्दहमाण मुसलमान होते हुये भी भारतीय भाषाओं एवं संस्कृति के अप्रतिम विशेषज्ञ थे। उनके द्वारा रचित 'संदेशरासक' नामक काव्य के अपभ्रंश भाषा में रचित होते हुये भी प्राकृत एवं हिन्दी इन दोनों के प्रभाव एवं विकास को भलीभाँति चित्रित करता है। इसमें भारतीय संस्कृति, दर्शन, इतिहास एवं मनोविज्ञान आदि का जैसा प्रभावी निरूपण प्राप्त होता है, वैसा अन्यत्र बहुत दुर्लभ है। इसीलिये स्वनामधन्य डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल प्रभृति मर्मज्ञ विद्वानों ने इस कृति की भूरि-भूरि प्रशंसा की है।

विदेशी विद्वानों ने भी अनेकत्र इसके विषय में विभिन्न विदेशी भाषाओं में बहुत कुछ लिखा है, किन्तु अंग्रेजी में इसके ऊपर कोई समग्र पुस्तक दृष्टिगोचर नहीं होती थी। यह एक अत्यंत हर्ष का विषय है कि प्राच्यभारतीय भाषाओं के मर्मज्ञ विद्वान् प्रो० एच०सी० भयाणी जी ने शारीरिक असमर्थता होते हुये भी एक अत्यंत श्रमसाध्य एवं विद्वज्जनग्राह्य कृति का निर्माण अंग्रेजी भाषा में किया है, ताकि विश्वभर के अधिक से अधिक लोग इस कृति की महनीयता से परिचित हो सकें।

समस्त विद्वानों एवं शोधार्थियों के लिये तो यह कृति अवश्य पठनीय है ही, जिज्ञासु पाठकों के लिये भी यह पर्याप्त उपयोगी सिद्ध होगी। इस उपयोगी प्रकाशन के लिये प्रो० भयानी एवं प्रकाशक-संस्थान दोनों ही अभिनंदनीय हैं। —**सम्पादक** ✱✱

(3)

पुस्तक का नाम : Ritthanemicariya (Harivamsapurana) Uttarakamda
मूल लेखक : महाकवि स्वयंभूदेव
सम्पादक : प्रो० रामसिंह तोमर
प्रकाशक : प्राकृत टैक्स्ट सोसायटी, अहमदाबाद
संस्करण : प्रथम, 2000 ई०
मूल्य : 75/- (डिमाई साईज़, पेपर बैक, लगभग 120 पृष्ठ)

भारतीय भाषाओं के साहित्य को समृद्ध करने में जैनाचार्यों एवं मनीषियों का सदा से उल्लेखनीय योगदान रहा है। अपभ्रंश के अप्रतिम महाकवि स्वयंभू ने अपनी कालजयी कृतियों के द्वारा एक ऐसे पथ को प्रशस्त किया है, जिस पर चलकर परवर्ती हिन्दी के महाकवि तुलसीदास जैसे अनेकों महाकवियों ने अपने साहित्य को उपजीवित किया है। महापंडित राहुल सांकृत्यायन जैसे विशिष्ट समालोचक विद्वानों ने इस तथ्य को व्यापक अनुसंधान एवं तुलनात्मक अध्ययन द्वारा अनेकत्र प्रमाणित किया है।

इन्हीं महाकवि स्वयंभू की 'रिट्ठणेमिचरिउ' नामक कृति को अत्यंत वैज्ञानिक रीति से सुसम्पादित कर स्वनामधन्य प्रो० रामसिंह तोमर जी ने प्रकाशनार्थ निर्मित किया, तथा प्राकृत टैक्स्ट सोसायटी, अहमदाबाद के द्वारा इसका प्रकाशन हुआ — यह विद्वानों के बीच पर्याप्त हर्षदायक सूचना है। यद्यपि इस संस्करण में 'रिट्ठणेमिचरिउ' के मात्र 'उत्तरकाण्ड' का ही मूल सम्पादित संस्करण प्रकाशित हुआ है, तथा इसमें अनुवाद, सम्पादनशैली-दर्शक सम्पादकीय एवं प्रस्तावना का अभाव है; फिर भी प्रो० भयानी के प्राक्कथन से इसके मूलपाठ के सम्पादन की महनीयता प्रमाणित हो जाती है।

समस्त विद्वानों एवं शोधार्थियों के लिये तो यह कृति अवश्य पठनीय है ही, जिज्ञासु पाठकों के लिये भी यह पर्याप्त उपयोगी सिद्ध होगी। इस उपयोगी प्रकाशन के लिये प्रो० रामसिंह तोमर एवं प्रकाशक संस्थान दोनों ही अभिनंदनीय हैं। —**सम्पादक** ✱✱

(4)

पुस्तक का नाम : प्रवचनसार की अशेष प्राकृत-संस्कृत शब्दानुक्रमणिका
संकलक : डॉ० के०आर० चन्द्र, शोभना आर० शाह
प्रकाशक : प्राकृत टैक्स्ट सोसायटी, अहमदाबाद
संस्करण : प्रथम, 2000 ई०
मूल्य : 60/- (डिमाई साईज़, पेपर बैक, लगभग 65 पृष्ठ)

आचार्य कुन्दकुन्दप्रणीत 'पवयणसार' (प्रवचनसार) नामक ग्रन्थ भारतीय दर्शनशास्त्र में अप्रतिम स्थान रखता है। शौरसेनी प्राकृतभाषा में निबद्ध यह ग्रन्थ दार्शनिक, साहित्यिक एवं भाषिक —तीनों दृष्टियों से विशेष उल्लेखनीय है। इस ग्रंथ पर प्रो० ए०एन० उपाध्ये जैसे महनीय विद्वानों ने गम्भीर शोधकार्य करके महत्त्वपूर्ण योगदान किया है। बाद में और भी कई विद्वानों ने अनेक दृष्टियों से इस पर अपनी लेखनी चलाई है। दार्शनिक जगत् के साथ-साथ प्राच्य भारतीय विद्याविदों में भी यह पर्याप्त चर्चित ग्रन्थ है।

इस ग्रन्थ की शब्दानुक्रमणिका इस कृति के रूप में प्रकाशित हुई है, जोकि प्रवचनसार के किसी प्राचीन संस्करण के परिशिष्ट की भाँति प्रतीत होती है। आधुनिक शोध-विधि के शोधार्थियों के लिये यह प्रकाशन उपयोगी हो सकता है।—**सम्पादक** ✱✱

(5)

पुस्तक का नाम : अपभ्रंश काव्य की लोकोक्तियों और मुहावरों का हिन्दी पर प्रभाव
लेखिका : डॉ० अलका प्रचण्डिया
प्रकाशक : तारामण्डल, अलीगढ़ (उ०प्र०)
संस्करण : प्रथम, 2001 ई०
मूल्य : 250/- (डिमाई साईज़, गते की पेपर बैक ज़िल्द, लगभग 260 पृष्ठ)

प्राकृतभाषा की लाड़ली दुहिता अपभ्रंश अपने आप में प्राकृत के शब्दसम्पत्ति एवं संस्कार से समृद्ध उपयोगी भारतीय भाषा है, जिससे आधुनिक हिन्दी भाषा विकसित हुई है। साहित्यिक अपभ्रंश का विकास विद्वानों ने स्पष्टरूप से शौरसेनी प्राकृत से माना है। अत: शौरसेनी प्राकृत के शब्द-भण्डार, शैली वैशिष्ट्य एवं प्रयोगों का अनुशीलन अपभ्रंश-साहित्य के द्वारा भली-भाँति किया जा सकता है। साथ ही हिन्दी का विकास इसी अपभ्रंश भाषा के द्वारा होने से हिन्दी भाषा में भी अपभ्रंश के बहुविध प्रयोग स्पष्ट परिलक्षित होते हैं। परम्परित लोकोक्तियों एवं मुहावरों की अपभ्रंश से लेकर हिन्दी तक की यात्रा का लेखा-जोखा इस शोधप्रबन्धात्मक कृति में विदुषी लेखिका ने श्रमपूर्वक प्रस्तुत किया है। इसप्रकार यह कृति प्राकृत, अपभ्रंश एवं हिन्दी —इन तीनों भाषाओं के जिज्ञासु पाठकों एवं शोधार्थियों के लिये उपयोगी सिद्ध हो सकती है।

—**सम्पादक** ✱✱

अभिमत

● आपसे शिमला में भेंट हुई थी, उसी समय आपकी सक्रियता, वैदुष्य और जयपुर के कार्यकाल के बारे में ज्ञात हुआ। डॉ० हरिराम आचार्य जी ने भी प्राकृत के क्षेत्र में आपके एवं आपकी संस्था के द्वारा किये जा रहे रचनात्मक प्रमाणिक कार्यों के बारे में बताया था। 'प्राकृतविद्या' बहुत संग्रहणीय सामग्री दे रही है, यह मैंने पिछले दो-एक अंकों के अध्ययन से पाया। कुछ समय पूर्व मुझे कुछ अंक मिले थे। शायद आपके ही सौजन्य से। आप इसे नये आयाम दे रहे हैं —यह मुझे मालूम है। —**प्रो० कलानाथ शास्त्री**, *जयपुर* **

● 'प्राकृतविद्या' वर्ष 12, अंक 2 मिला, बहुत-बहुत धन्यवाद। आपका यह प्रकाशन बहुत मूल्यवान है। जितने लेख प्रकाशित हुए हैं, वे सभी महत्त्वपूर्ण हैं। 'अहिंसा ही विश्व में शांति का उपाय' —यह श्रीमती इंदु जैन का लेख प्रभावी और उत्तम है। सामान्यत: सभी लेख मूल्यवान् हैं। —**डी०एम० गोरद्रालिया**,
श्री वर्द्धमान जैन धार्मिक लाइब्रेरी, अमरेली (गुजरात) **

● 'प्राकृतविद्या' का 'जुलाई-सितम्बर 2000 अंक प्राप्त हुआ। 'जैनदर्शन में 'जिन' शब्द की व्याख्या' डॉ० दयाचन्द्र साहित्याचार्य का लेख बहुत अच्छा ज्ञानवर्धक लगा जिसमें 'जिन' शब्द के विभिन्न पहलुओं को उजागर किया गया है। बधाई।
—**नथमल कोठारी**, *बालोद (छत्तीसगढ़)* **

● Sir, I Asa Ram Jain, am grateful for publishing quarterly "Prakrit-Vidhya" Journal, which is not only very-very authentic but also contains very useful data regarding various अध्यात्मिक subjects, which is not easily available elsewhere.

In this connection, I am inviting your kind attention to the Chapter "णमोकार मंत्र की जाप-संख्या और पंच-तंत्री वीणा" Pages 36-39 in April-June, 2000 Edition. Total of all the Japs of Maha-Mantra (p.37) is not correct. It shall be 4,13,400 and **not 3,73,400.**

It is requested that necessary correction may kindly be notified to all concerned. —**Asa Ram Jain,** *Doorbhash Nagar, Bareli (U.P.)* **

❂ Dear Sir Jain,

It was indeed nice to get a copy of the 'Prakrit Vidhya' so meticulously and painstakingly edited by you and other scholars of Prakrit and Jainology. The literary, linguistic, philosophical and religious themes of the research articles throw fresh light on the chosen topics. The volume also takes into care original composition and book reviews thus making it holistic representative of studies in Prakrit. I thank you and congratulate you on this academic endeavour. I write a verse to say my feelings for the journal:

विद्या प्राकृतभारतीविकसिता कालाच्चिरात्सञ्चिता,
शास्त्रैस्तत्त्ववितानतथ्यकथनैस्तर्कैः समुन्मीलिता।
सत्काव्यकुसुमैर्विभूषिततनू सद्धर्मसन्धायिनी,
सैषा प्राकृतविद्यया मतिपथे पान्थायतां श्रेयसे।।

Thanking you again and with best personal regards.

—**S.M. Mishra,** *Deptt. of Sanskrit, Kurukshetra* ✱✱

❂ 'जुलाई-सितम्बर 2000 का 'प्राकृतविद्या' अंक लाइब्रेरी में पढ़ने को मिला, आवरण पृष्ठ देखकर एवं 'कमण्डलु में ही भूमण्डल का अहिंसक अर्थशास्त्र' स्वरूप सटीक व्याख्या पढ़कर बहुत अच्छा लगा। आपको विशेष बधाई। 'समाजधर्म' पर सम्पादकीय बहुत उल्लेखनीय है। वास्तव में प्रत्येक श्रावक-श्राविकाओं को भावानुराग, प्रेमानुराग, मज्जानुराग एवं धर्मानुराग युक्त होना चाहिए तभी जिनशासन की प्रभावना में दिनोंदिन उत्तरोत्तर वृद्धि होगी। "येन केन प्रकारेण जैनधर्मः प्रवर्धति" का व्रत जैनसमाज के प्रत्येक व्यक्ति को अंगीकार करना ही होगा। इसका परिणाम भी बहुत भव्य है—

"रुचिः प्रवर्तते यस्य जैन-शासन-भासने।
हस्ते तस्य स्थिता मुक्तिरिति सूत्रे निगद्यते।।"

भगवान् जिनेन्द्र के शासन की प्रभावना करने की जिस भव्यजीव की रुचि/इच्छा प्रवर्तित होती है, उसके लिए मुक्ति तो हाथ में ही रखी है— ऐसा सूत्र में कहा है। इसी शुभ भावना के साथ।

—**डॉ० मुन्नी पुष्पा जैन,** *वाराणसी* ✱✱

❂ आपके कुशल निर्देशन में प्रकाशित 'प्राकृतविद्या' को विगत दो वर्षों से निरन्तर पढ़ने का सुयोग प्राप्त हो रहा है। समकालीन जैन साहित्य से सम्बन्धित ज्ञान में समृद्धि का यह महत्त्वपूर्ण स्रोत है। जुलाई-सितम्बर 2000 ई० के अंक के मुखपृष्ठ पर अंकित कमण्डलु का चित्र (अहिंसक अर्थशास्त्र कमण्डलु में ही भूमण्डल का अर्थशास्त्र है — इसे संदेश के साथ) सम्पादक मण्डल के सूक्ष्म-चिन्तन व राष्ट्रीय चेतना का द्योतक है। वर्तमान परिप्रेक्ष्य में मानव-जाति को इससे प्रेरणा ग्रहण करनी चाहिये। इस सराहनीय प्रयास के लिये आप शतशः धन्यवाद के पात्र हैं।

—**प्रो० (श्रीमती) उर्मिला आनन्द,** *आगरा* ✱✱

❂ 'प्राकृतविद्या' का जुलाई-सितम्बर 2000 ई० का अंक हाथ में है। पत्रिका के सभी लेख एवं सम्पादकीय प्रेरणाप्रद, शिक्षाप्रद एवं मननीय है। मुख्य पृष्ठ का चित्र 'अहिंसक अर्थशास्त्र: कमण्डलु में ही भूमण्डलं का अर्थशास्त्र है' अत्यंत प्रेरणाप्रद और दिशाबोधक है। कमण्डलु के चित्र ने बिना कुछ कहे, बहुत कुछ कह दिया। इस कल्पनाशीलता एवं संयोजन हेतु सादर नमन।

श्रीमती बिन्दु जैन की रचना 'शिक्षा व संस्कृति के उत्थान की महान् प्रेरिका— 'चिरोंजाबाई' पढ़ कर दो युगों के बीच सामाजिक/धार्मिक दृष्टिकोण में आये बदलाव का अंर्तहृदय पटल पर सहज ही चित्रित हो गया। माँ चिरोंजाबाई के धर्मपुत्र पूज्य गणेशप्रसाद जी वर्णी के युग में बुन्देलखण्ड की शुद्धाम्नायी जैन संस्कृति एवं समाज पल्लवित-पुष्पित हुअी थीं। उनके महत् प्रयासों से बुन्देलखण्ड एवं वाराणसी में विद्यालय, महाविद्यालय, जैन-पाठशालायें, गुरूकुल एवं आश्रमों की स्थापना में श्रीमंतों एवं जन-सामान्य ने अपने धन का सदुपयोग कर, बुन्देलखंड को पंडित रत्नों की खान और श्रावकों की साधना-भूमि बना दिया था। प्रत्येक धार्मिक आयोजन से प्राप्त धनराशि का उपयोग जैनशिक्षा एवं समाज कल्याण में होता था। यह सब परमसम्मानीय चिरोंजाबाई की धर्म-लगन एवं उनके अजैन मूल के धर्मपुत्र श्री गणेशप्रसाद जी वर्णी के जैनधर्म एवं जैन-संस्कृति के प्रति असीम प्रगाढ़ प्रेम का परिचायक था। उनके इस महान् योगदान से जैनसमाज सदैव उऋणी रहेगा। उन्होंने यह कार्य निस्पृह एवं निर्मानभाव से किया। कहीं कोई शिलालेख एवं सम्मान आदि प्राप्त नहीं किया। वे जन-जन के हृदय पटल पर सदैव को उत्कीर्ण हो गये थे।

आप से अनुरोध है कि जैन इतिहास के सृजक महानुभावों के पर-कल्याणपरक, राष्ट्रहितकारक कृत्यों/सेवाओं/बलिदान एवं दक्षिण भारत की निष्पृही संस्कृति की गाथाओं को भी प्राकृतविद्या में स्थान देते रहें, तो महान् कृपा होगी। —**डॉ० राजेन्द्र कुमार बंसल**, *अमलाई, (म०प्र०)* ✱✱

❂ जुलाई-सितम्बर 2000 'प्राकृतविद्या' अंक प्राप्त हुआ। आवरण पृष्ठ में जिस गूढ़रहस्य को सामने रखकर दिया गया है, वह दूरदर्शिता का परिचायक है। सम्पादकीय में विशिष्ट व्यक्तियों पर दृष्टिपात करने सामाजिक मूल्यों की प्रतिबद्धता का संकेतात्मक विवरण मिलता है। चिरोंजाबाई तथा आचार्य शान्तिसागर संबंधी विवरण आत्मिक होकर अमल करने योग्य है।

प्राकृतछंद-गाहा एक नवीन खोजपूर्ण स्थिति सामने रखता है। दशलक्षणधर्म-संबंधी लेख का विशद विश्लेषण प्रभावोत्पादक होकर मार्गदर्शक का कार्य करता है — अनुकरणीय है। जैनदर्शन में 'जिन' शब्द की व्याख्या-सम्बन्धी विश्लेषण ग्रहण करने योग्य है। साथ ही 'पवयणसार' के मंगलाचरण का समीक्षात्मक मूल्यांकन विचारणीय है। इसीप्रकार आषाढ़ी पूर्णिमा संबंधी विवेचन संक्षिप्त होते हुए भी अत्यन्त सारगर्भित है।

अंक की अन्य सामग्री भी सामयिक होकर पठनीय है। इसप्रकार अंक सुन्दर बन पड़ा है। बधाई स्वीकार कीजिए। सच तो यह है कि 'प्राकृतविद्या' के सभी अंक संग्रहणीय होते हैं। अनेक नवीन बातें सामने रखकर बौद्धिक विकास में सहायक होते हैं —यह बड़ी

विशेषता है। पत्र की सूचना अपेक्षित है। —**मदनमोहन वर्मा**, *ग्वालियर, (म०प्र०)* ✱✱

✪ 'प्राकृतविद्या' के अंक पिछले एक वर्ष से प्राप्त हो रहे हैं, आभार। सम्पादन/लेख सभी सामग्री संग्राह्य है। आपके द्वारा भेजी गयी पत्रिका के प्रत्येक पृष्ठ/पंक्ति को मैं बहुत मनोयोग से पढ़ता हूँ। —**पं० विष्णुकान्त शुक्ल**, *सहारनपुर, (उ०प्र०)* ✱✱

✪ 'प्राकृतविद्या' का नवीनतम अंक प्राप्त हुआ। कलेवर की समृद्धता से मन प्रसन्न हो गया। आपकी निखरी शैली के दिग्दर्शन प्रत्येक आलेख के सम्पादकीय में होते हैं।

—**डॉ० जिनेन्द्र जैन**, *लाडनूं (राज०)* ✱✱

✪ 'प्राकृतविद्या' को मैं नियमित रूप से मन लगाकर पढ़ता हूँ। इसके प्रतिपाद्य विषय तो अत्यधिक सारगर्भित होते ही हैं, किन्तु मुझे इसकी शैली विशेषत: आकर्षित करती है। मुख्यरूप से आपके संपादकीय लेख एवं अन्य लेख यह सक्षम रीति से प्रमाणित करते हैं कि साहित्यिक भाषा में भी भरपूर आकर्षण होता है। अभी तक मैं यह समझता था कि मात्र सरलभाषा ही चित्त को आकर्षित करती है, किन्तु 'प्राकृतविद्या' में आपकी लेखनी ने यह प्रमाणित कर दिया कि साहित्यिक भाषा में भी भरपूर लालित्य एवं लोकाकर्षण होता है।

—**अशोक बड़जात्या**, इंदौर *(म०प्र०)* ✱✱

विद्याध्ययन की विधि

"ततोऽस्य पञ्चमे वर्षे प्रथमतरदर्शनि, ज्ञेय: क्रियाविधिर्नाम्ना लिपिसंख्यानसंग्रह:।
यथाविभवमत्रापि ज्ञेय: पूजापरिच्छद:, उपाध्यायपदे चास्य मतोऽधीती गृहव्रती।।

—(आचार्य जिनसेन, आदिपुराण, 38/248)

अर्थ :— तदनन्द पाँचवें वर्ष में कोमलमति बालक को सर्वप्रथम अक्षरों का दर्शन कराने के लिए लिपि 'संख्यान' नाम की क्रिया की विधि की जाती है।

इस क्रिया में भी अपने वैभव के अनुसार सरस्वती-पूजा आदि की सामग्री जुटानी चाहिये और अध्ययन करने में कुशल चारित्रवान् गृहस्थाचार्य को ही उस बालक के उपाध्याय (अध्यापक) के पद पर नियुक्त करना चाहिये।

स वृत्तचूलश्चलकाकपक्षकैरमात्यपुत्रै: सवयोभिरन्वित:।
लिपेर्यथावद्ग्रहणेन वाङ्मये नदीमुखेनेव समुद्रमाविशत्।। *—(रघुवंश, 3/28)*

अर्थ :— महाराज अयोध्यापति दिलीप ने अपने आत्मज कुमार रघु का यथाविधि चूडाकर्म (गर्भकेश-मुण्डन) संस्कार किया। वह कुमार शिर पर नये निकले मसृणमदुल श्यामकेशों से (जिन्हें कौवे के पंखों जैसा कृष्ण होने से काकपक्ष कहते हैं) शोभायमान अपने समान तुल्यरूप-वय: मंत्रिपुत्रों के साथ गुरुकुल में जाने लगा। वहाँ उसने स्वरव्यञ्जनात्मिका लिपि का ज्ञान प्राप्त किया, जिससे उसे शब्द-वाक्यादिरूप आरम्भिक वाङ्मय में प्रवेश करना उसीप्रकार सरल हो गया, जैसे नदी में बहकर आनेवाले किसी मकरादि जलचर पशु को समुद्र-प्रवेश सुलभ हो जाता है। ✱✱

समाचार दर्शन

प्राकृतभाषा विभाग का सुयश

श्री लालबहादुर शास्त्री राष्ट्रिय संस्कृत विद्यापीठ (मानित विश्वविद्यालय), नई दिल्ली में नवनिर्मित 'प्राकृतभाषा विभाग' ने अपनी स्थापनाकाल से ही निरन्तर यशस्वी कार्यों की परम्परा प्रवर्तित कर दी है। विद्यापीठ स्तर पर उत्तम परीक्षा परिणाम के साथ-साथ इस विभाग के प्रथम बैच के छह छात्रों ने 'विश्वविद्यालय अनुदान आयोग' द्वारा राष्ट्रिय स्तर पर आयोजित की जाने वाली 'राष्ट्रिय व्याख्याता अर्हता प्रतियोगी परीक्षा' (N.E.T.) में भी अद्वितीय यश अर्जित कर विभाग की ख्याति बढ़ायी है। ऐसे अवसर बहुत दुर्लभ रहे हैं, जब किसी नवस्थापित विभाग के छात्रों का इस परीक्षा में प्रथम बार में ही शत-प्रतिशत परीक्षा-परिणाम रहा हो, किंतु प्राकृतभाषा विभाग को यह सुयश मिला है। विभाग की छात्रा **श्रीमती रंजना जैन** ने विभाग एवं विद्यापीठ में सर्वोच्च वरीयता प्राप्त करने के साथ-साथ इस परीक्षा में भी सर्वोच्च वरीयता के साथ **'जूनियर रिसर्च फेलोशिप' (J.R.F.)** के लिए क्वालीफाई किया है तथा शेष पाँच छात्रों— 1. प्रभातकुमार दास, 2. श्रीमती मंजूषा सेठी, 3. अशोक कुमार जैन, 4. अमित कुमार जैन एवं 5. रजनीश शुक्ल ने **'व्याख्याता अर्हता' (N.E.T.)** अर्जित की है।

प्राकृतभाषा विभाग के इन छहों छात्रों को यशस्वी जीवन के लिए हार्दिक बधाई।

—सम्पादक **

प्रख्यात शिक्षाविद् डॉ० मण्डन मिश्र जी को 'महामहोपाध्याय' प्रशस्ति

महामना मदनमोहन मालवीय जी द्वारा स्थापित विश्वस्तरीय देश के सुप्रतिष्ठित विश्वविद्यालय 'बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय' के द्वारा 'पद्मश्री' सम्मान से विभूषित विश्वप्रसिद्ध शिक्षाविद् स्वनामधन्य **डॉ० मण्डनमिश्र** जी को 'महामहोपाध्याय' की सुप्रतिष्ठित सर्वोच्च प्रशस्ति भव्य समारोहपूर्वक समर्पित कर सम्पूर्ण शिक्षाजगत् को गौरवान्वित किया है।

डॉ० मण्डन मिश्र जी की अनुपम शैक्षिक सेवाओं की सम्पूर्ण विश्व में प्रतिष्ठा है। संस्कृत भाषा को झोपड़ी से राष्ट्रपति भवन तक पहुँचाकर अब वे संस्कृत के साथ-साथ प्राकृतभाषा को भी इसीप्रकार प्रतिष्ठित करने के लिए अहर्निश प्रयत्नशील हैं। 'बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय' द्वारा समर्पित प्रशस्ति का छायाचित्र यहाँ अविकलरूप से प्रस्तुत है :—

यद्यपि डॉ० मण्डनमिश्र जी जैसे अप्रतिम मनीषी साधक को पाकर यह प्रशस्ति ही

काशीहिन्दूविश्वविद्यालयः
महामहोपाध्यायः

काशीहिन्दूविश्वविद्यालयस्य विद्वत्परिषदनेन प्रमाणपत्रेण "महामहोपाध्यायः" इति सम्मानितां पदवीं प्रदाय प्रकृष्टपदस्य समुपलब्धीनाञ्च कृते आचार्यश्रीमण्डनमिश्रमहोदयमभ्यर्हयति।

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय
महामहोपाध्याय

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की विद्वत्परिषद् आचार्य श्री मण्डन मिश्र को उनकी प्रतिष्ठा एवं उपलब्धियों के लिए "महामहोपाध्याय" की मानद उपाधि प्रदान करती है।

BANARAS HINDU UNIVERSITY
Mahāmahopādhyāya

The Academic Council of the Banaras Hindu University hereby confers the Degree of "Mahāmahopādhyāya" Honoris Causa on Acharya Shri Mandan Mishra in recognition of his eminent position and attainments.

Dated: 22nd November, 2000 कुलपतिः / कुलपति / VICE-CHANCELLOR

डॉ० मण्डन मिश्र जी को प्रदत्त प्रशस्ति का चित्र

प्रतिष्ठित हुई है, तथापि प्राकृतविद्या-परिवार की ओर से परमसम्मान्य डॉ० मण्डन मिश्र जी को इस प्रशस्ति-लाभ के सुअवसर पर उनके दीर्घ स्वस्थ जीवन एवं उत्तरोत्तर अनुपम यशस्वी कार्यों की सफलता के लिए विनम्र शुभकामनायें सादर समर्पित हैं।

—सम्पादक **

कुन्दकुन्द भारती प्रांगण में विश्वभर के यशस्वी दार्शनिकों का समागम

गुरुदेव रवीन्द्रनाथ टैगोर एवं डॉ० सर्वपल्ली राधाकृष्णन् जैसे यशस्वी कालजयी महापुरुषों द्वारा स्थापित 'भारतीय दर्शन परिषद्' की स्थापना के 75 वर्ष पूर्ण होने के सुअवसर पर आयोजित 'हीरक जयन्ती समारोह' के प्रसंग में 'विश्व दार्शनिक महाधिवेशन' का आयोजन राजधानी नई दिल्ली में गरिमापूर्वक किया गया। इस कार्यक्रम के दो महत्त्वपूर्ण सत्र दिनांक 30 एवं 31 दिसम्बर '2000 को कुन्दकुन्द भारती प्रांगण में आयोजित किये गये। इस महाधिवेशन में विश्वभर से पधारे लगभग 1250 दार्शनिक विद्वान् यहाँ के परिसर, व्यवस्था एवं कार्यक्रम की गरिमा को देखकर भावविभोर हो उठे।

दिनांक 30 दिसम्बर के विशेष सत्र में पूज्य **आचार्यश्री विद्यानन्द जी मुनिराज** का 'अग्नि में जीवत्वशक्ति' विषयक उद्बोधन अभूतपूर्व रहा। इस अवसर पर अग्नि में जीवत्वशक्ति के बारे में जिन अकाट्य प्रमाणों को अद्भुत प्रतिपादन शैली के द्वारा प्रस्तुत किया, उससे सभी विद्वान् व श्रोतागण भावविभोर हो उठे। इस उद्बोधन की मुद्रित पुस्तकाकार प्रति भी सभी को उपलब्ध करायी गयी। कार्यक्रम का गरिमापूर्वक संचालन करते हुए **डॉ० सुदीप जैन** ने समागत विद्वानों को संस्था की गतिविधियों एवं योजनाओं की प्रभावी रूपरेखा से परिचित कराया तथा पूज्य आचार्यश्री के मंगल सान्निध्य में हुए कार्यों की जानकारी दी, जिससे वे अभिभूत हो उठे।

इस कार्यक्रम में दर्शनशास्त्र के विदेशी विद्वानों के अतिरिक्त एक सौ कृतकार्य (रिटायर्ड) भारतीय प्रोफेसरों को भी माल्यार्पण शॉल-समर्पण एवं स्वर्णमंडित पदक के साथ सम्मानराशि प्रदान कर कुन्दकुन्द भारती की ओर से सम्मानित किया गया। इस सुन्दर आयोजन के लिए महाधिवेशन के संयोजक **डॉ० एस०आर० भट्ट** ने कुन्दकुन्द भारती के प्रति हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित की। इस आयोजन में डॉ० कमलचंद सोगानी, डॉ० वीरसागर जैन, डॉ० जयकुमार उपाध्ये, श्री सुरेन्द्र कुमार जौहरी, श्री रूपेश जैन, श्री महेन्द्र कुमार जैन (पूर्वपार्षद) आदि सज्जनों का भी उल्लेखनीय सहयोग रहा। **—सम्पादक** **

'ब्राह्मी लिपि'-विषयक कार्यशाला सम्पन्न

कुन्दकुन्द भारती प्रांगण में पूज्य आचार्यश्री विद्यानन्द जी के सान्निध्य में प्राय: अभूतपूर्व कार्यक्रमों का आयोजन होता रहता है। इसी शृंखला में नववर्ष की प्रभातबेला में दिनांक **8.1.2001** से **14.1.2001** तक 'ब्राह्मी लिपि' —विषयक कार्यशाला का आयोजन प्रख्यात लिपिवेत्ता मनीषीप्रवर **प्रो० के०के० थपल्याल** (कृतकार्य प्रोफेसर एवं कलासंकाय प्रमुख, लखनऊ विश्वविद्यालय) के निदेशकत्व में किया गया। इस कार्यशाला में प्रो० थपल्याल जी ने तो सातों दिन 'ब्राह्मी लिपि' का सैद्धान्तिक, ऐतिहासिक एवं व्यावहारिक ज्ञान कराया ही, साथ ही श्री **आर०सी० त्रिपाठी** (महासचिव राज्यसभा), **प्रो० मुनीश चन्द्र जोशी** (पूर्व महानिदेशक 'भारतीय पुरातत्त्व सर्वेक्षण), प्रो० एस०एस० राणा (पूर्व प्रोफेसर दिल्ली विश्वविद्यालय), **डॉ० रवीन्द्र वशिष्ठ** (वरिष्ठ प्राध्यापक दिल्ली विश्वविद्यालय), **प्रो०**

कपिल कपूर (कुलानुदेशिक, ज०ला०ने० विश्वविद्यालय, नई दिल्ली) एवं **श्री अनंतसागर अवस्थी** (विशेष सचिव शिक्षा, दिल्ली सरकार) आदि का सारस्वत अवदान भी उल्लेखनीय रहा। 'समापन सत्र' के अध्यक्ष विश्वविख्यात शिक्षाविद् **प्रो० वाचस्पति उपाध्याय** (कुलपति, श्री लाल बहादुर शास्त्री राष्ट्रिय संस्कृत विद्यापीठ, नई दिल्ली) ने अपने उद्बोधन से समागत विद्यानुरागियों को मंत्रमुग्ध कर दिया। इस सत्र के मुख्य अतिथि सुप्रसिद्ध समाजसेवी साहू रमेशचन्द्र जी जैन थे। इस कार्यशाला का सफल संचालन **डॉ० सुदीप जैन** ने किया।

इस कार्यशाला में जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय सहित दिल्ली के प्रमुख शिक्षा संस्थानों के अध्यापकों, शोधार्थियों एवं जिज्ञासु लोगों ने उत्साहपूर्वक भाग लिया। अंत में विधिवत् नामांकित प्रविष्टुजनों को प्रमाणपत्र वितरित किये गये। इस कार्यशाला के सहसंयोजक संस्थान 'भारत संस्कृत समवाय' के सचिव डॉ० संतोष कुमार शुक्ल, कुन्दकुन्द भारती के डॉ० वीरसागर जैन एवं डॉ० जयकुमार उपाध्ये का सहयोग भी उल्लेखनीय रहा। **—सम्पादक ****

डॉ० जयकिशन प्रसाद खण्डेलवाल को 'आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी सम्मान'

डॉ० जयकिशन प्रसाद खण्डेलवाल, निदेशक—वृन्दावन शोध संस्थान, मथुरा को उत्तर प्रदेश हिन्दी साहित्य सम्मेलन के रायबरेली (उ०प्र०) में सम्पन्न वार्षिक अधिवेशन (30.9.2000) के अवसर पर **आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी सम्मान** से सम्मानित किया गया। उन्हें यह सम्मान आलोचना साहित्य में विशिष्ट योगदान हेतु दिया गया।

प्राकृतविद्या-परिवार की ओर से बधाई। **—सम्पादक ****

श्रवणबेलगोल में 'चन्द्रगिरि चिक्कबेट्टा महोत्सव-सम्पन्न'

श्रवणबेलगोला में केन्द्रीय पर्यटन एवं संस्कृति मन्त्री श्री अनन्त कुमार ने 'चन्द्रगिरि-चिक्कबेट्टा महोत्सव' का उद्घाटन करते हुए कहा कि पुरातत्त्व महत्त्व की हमारी धरोहर महत्त्वपूर्ण एवं बहुमूल्य है, इसकी रक्षा करना हमारा कर्त्तव्य है। इस क्षेत्र की पुरातत्व निधि के संरक्षण के लिए एवं क्षेत्र द्वारा संचालित 'प्राकृतभाषा शोध संस्थान' व अन्य संस्थाओं के विकास के लिए केन्द्र भरपूर सहयोगी देगा। अपने आशीर्वचन में भट्टारक चारुकीर्ति स्वामी जी ने कहा कि चन्द्रगिरि तपो-भूमि है, जहाँ से अनेक मुनियों ने संयम-साधना द्वारा सल्लेखनापूर्वक स्वर्गारोहण किया है।

महोत्सव समिति के अध्यक्ष साहू रमेश चन्द्र जैन ने 2300 वर्ष पूर्व श्रुतकेवली आचार्य भद्रबाहु और सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्य के दक्षिण आगमन का उल्लेख करते हुए 'चन्द्रगिरि' के महत्त्व को रेखांकित किया। इस महोत्सव में कन्नड़, हिन्दी, मराठी, तमिल और अंग्रेजी के 108 ग्रन्थ प्रकाशित किए जायेंगे, जिनमें से अभी तक ग्यारह ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं। तथा संगोष्ठियों के द्वारा भी 'चन्द्रगिरि' के इतिहास को प्रचारित किया जाएगा। **सभा में आचार्य श्री विद्यानन्द जी का आशीर्वाद संदेश पढ़कर सुनाया गया।**

समारोह में भट्टारक भुवनकीर्ति, कनकगिरि भट्टारक धवलकीर्ति, अरिहंतगिरि, सतीश जैन (आकाशवाणी) आदि गणमान्य व्यक्ति उपस्थित थे। **—रमेश कुमार जैन ****

भगवान् ऋषभदेव अन्तर्राष्ट्रीय निर्वाण महामहोत्सव वर्ष का भव्य समापन

'भगवान् ऋषभदेव अन्तर्राष्ट्रीय निर्वाण महामहोत्सव वर्ष' का भव्य समापन तीर्थंकर ऋषभदेव तपस्थली, प्रयाग तीर्थक्षेत्र में हुआ। निर्वाण महामहोत्सव वर्ष में पूरे देश में भगवान् ऋषभदेव संगोष्ठियाँ, अनेकों सामाजिक, धार्मिक एवं शैक्षणिक कार्यक्रम, एवं पूरे देश में ऋषभदेव कीर्तिस्तम्भों का निर्माण इत्यादि आयोजन किये गये।

—**ब्र० रवीन्द्र कुमार जैन,** *प्रयाग* **

आचार्य राजकुमार जैन भारत सरकार द्वारा पुरस्कृत

भारत सरकार के स्वास्थ्य और परिवार कल्याण मंत्रालय ने आचार्य राजकुमार जैन द्वारा लिखित 'योग और आयुर्वेद' शीर्षक पुस्तक को बीस हजार रुपयों का पुरस्कार प्रदान किया है। यह पुरस्कार श्री जैन को दिनांक 29.1.2001 को स्वास्थ्य एवं परिवार कल्याण मंत्रालय, निर्माण भवन में आयोजित एक सादे किंतु गरिमामय समारोह में स्वास्थ्य सचिव श्री जावेद चौधरी द्वारा प्रदान किया गया। श्री राजकुमार जैन भारत सरकार के स्वास्थ्य और परिवार कल्याण मंत्रालय के अधीन गठित भारतीय चिकित्सा केंद्रीय परिषद (नई दिल्ली) में निबंधक एवं सचिव के पद पर अपनी सेवायें लंबी अवधि तक दे चुके हैं। संपूर्ण भारत में आयुर्वेद की शिक्षा के स्तरोन्नयन में आपका योगदान प्रशंसनीय है।

वर्तमान में "आयुर्वेद वाङ्मय की रचना प्रक्रिया में जैनाचार्यों का योगदान" विषय पर शोधकार्य में संलग्न है।

—**सम्पादक** **

डॉ० गुरुदत्त प्रधान जी की राष्ट्रीय प्रशस्ति

भारत के प्रधानमंत्री श्री अटल बिहारी वाजपेयी जी के हाथों डॉ० प्रधान गुरुदत्त जी को राष्ट्रीय पुरस्कार (20,000/-रू०) प्रदान — कन्नड़ के महाकवि श्री कुवेम्पु जी के महाकाव्य (श्री रामायण दर्शनम) के अनुवाद के उपलक्ष्य में। इसी 2.3.2001 को प्रधानमंत्री जी के निवास में संपन्न पुरस्कार समारोह में यह पुरस्कार प्रदान किया गया। डॉ० प्रधान गुरुदत्त जी मैसूर विश्वविद्यालय के कृतकार्य प्राध्यापक है और कुन्दकुन्द भारती के कई कार्यक्रमों से संबद्ध हैं।

—**सम्पादक** **

पत्राचार प्राकृत पाठ्यक्रम

दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र श्रीमहावीरजी द्वारा संचालित अपभ्रंश साहित्य अकादमी द्वारा 'पत्राचार प्राकृत सर्टिफिकेट पाठ्यक्रम' सत्र 1 जुलाई, 2001 से प्रारम्भ होगा। नियमावली एवं आवेदन पत्र दिनांक 25 मार्च, से 15 अप्रैल, 2001 तक अकादमी कार्यालय, दिगम्बर जैन नसियाँ भट्टारकजी, सवाई रामसिंह रोड़, जयपुर-4 से प्राप्त करें।

—**डॉ० कमलचन्द सोगाणी,** *जयपुर* **

साहित्याचार्य जी का चिर-वियोग

न्यायाचार्य पण्डित गणेशप्रसाद वर्णी के कृपापात्र मानस पुत्र, अनेकानेक पुराणों, ग्रन्थों

और स्तोत्र संग्रहों के भाषानुवादक, जैन वांग्मय के महान् अध्येता तथा जैन विद्याओं के आमरण अवदानी, स्वनामधन्य विद्वान् पं० डॉ० पन्नालाल साहित्याचार्य अब हमारे बीच नहीं रहे। फाल्गुन शुक्ला चतुर्दशी गुरुवार 8 मार्च की रात्रि में सवा बजे, श्रीक्षेत्र कुण्डलपुर में बड़ेबाबा को नमन करते हुए उन्होंने समाधि-मरण प्राप्त किया। उनके जाने से बीसवीं शताब्दी की पण्डित-परम्परा का प्रमुख प्रकाश-स्तम्भ ढह गया।

डॉ० पन्नालाल अनेक उपाधियों से अलंकृत थे, परन्तु 'साहित्याचार्य' शब्द उनके लिये रूढ़ हो गया था। ग्यारह आगम वाचनाओं में कुलपति पद को सुशोभित करनेवाले साहित्याचार्य जी ने कभी अपनी क्षमताओं को लेकर रंचमात्र भी अहंकार नहीं किया। यह निरभिमानता, निस्पृहता, समता और सौजन्य, साहित्याचार्य जी की उस पारम्परिक ज्ञान-साधना का फल था जिसने श्रावक रहते उन्हें 'वंदनीय' बना दिया था।

प्राकृतविद्या परिवार की ओर से दिवंगत भव्यात्मा को बोधिप्राप्ति, सुगतिगमन एवं शीघ्र निर्वाण-लाभ की मंगलकामना के साथ सादर श्रद्धांजलि समर्पित है। **—सम्पादक** **

आचार्य कुन्दकुन्द-स्मृति व्याख्यानमाला सम्पन्न

श्री लालबहादुर शास्त्री राष्ट्रिय संस्कृत विद्यापीठ (मानित विश्वविद्यालय) नई दिल्ली में श्री कुन्दकुन्द भारती न्यास द्वारा स्थापित शौरसेनी प्राकृतभाषा एवं साहित्य विषयक **'आचार्य कुन्दकुन्द-स्मृति व्याख्यानमाला'** का सप्तम सत्र 22-23 मार्च को सानन्द सम्पन्न हुआ।

इस अवसर पर मंगल आशीर्वचन में पूज्य **आचार्यश्री विद्यानन्द जी मुनिराज** ने संस्कृत की संवाहिका बताया। उन्होंने कहा कि इन दोनों भाषाओं में जो अपार साहित्य निबद्ध है, वह इस देश की वास्तविक सम्पत्ति है। महाकवि भास एवं कालिदास आदि ने अपने नाटकों में इन भाषाओं के जीवन्तरूप प्रस्तुत कर इन्हें अमरत्व प्रदान किया है।

सत्र में समागत विद्वानों एवं अतिथियों का स्वागत करते हुए विद्यापीठ के कुलपति **प्रो० वाचस्पति उपाध्याय** जी ने संस्कृत के साथ प्राकृतभाषा का अभिन्न तादात्म्य बताते हुए इन दोनों की मांगलिक युति का महत्त्व बताया। मुख्यवक्ता डॉ० **श्रीरंजनसूरिदेव**, पटना (बिहार) ने महाकवि कालिदास एवं राजशेखर के नाट्यसाहित्य में प्रयुक्त प्राकृतों, विशेषत: शौरसेनी प्राकृत का महत्त्व प्रतिपादित किया। अध्यक्ष **प्रो० मुनीश चन्द्र जोशी** ने पुरातात्त्विक सामग्री के अध्ययन-अनुसंधान के लिए प्राकृतभाषा के ज्ञान की अनिवार्यता बतायी।

समारोह के संयोजक डॉ० **सुदीप जैन** ने समागत विद्वानों एवं अतिथियों का आभार व्यक्त करते हुए कहा कि इस विद्यापीठ में प्राकृतभाषा का विभाग माननीय डॉ० **मण्डन मिश्र** जी एवं **प्रो० वाचस्पति उपाध्याय** जी के प्रयत्नों से स्थापित हुआ है एवं प्रगतिपथ पर अग्रसर है। इस अवसर पर बी०एल० इन्स्टीट्यूट ऑफ इंडोलॉजी के निदेशक **प्रो० विमल प्रकाश जैन** एवं महात्मा गाँधी अन्तर्राष्ट्रीय हिन्दी विश्वविद्यालय के प्रोफेसर **वृषभप्रसाद जैन** भी उपस्थित थे। समापन-सत्र में माननीय कुलाधिपति श्री **के०पी०ए० मेनोन** जी के सान्निध्य में प्राकृत पाठ्यक्रम के छात्रों को प्रमाणपत्र दिये गये। **—सम्पादक** **

ब्र० कमलाबाई जी को वर्ष 1999 ई० का 'स्त्री-शक्ति पुरस्कार' समर्पित

सन् 1923 में कूचामन शहर, जिला नागौर (राजस्थान) में जन्मी ब्र० कमलाबाई जी ने 30 वर्ष की आयु में इन्होंने मात्र छह लड़कियों से अपना निजी आदर्श महिला विद्यालय खोला। आज इस स्कूल में 2000 लड़कियाँ विद्यार्जन कर रही हैं। इनमें से अधिकांश छात्रायें समाज के पिछड़े वर्गों तथा जनजातीय समुदायों की हैं। इन्होंने 650 छात्राओं की आवास-क्षमतावाला एक छात्रावास भी स्थापित किया।

विशेषरूप से ग्रामीण तथा जनजातीय क्षेत्रों में से निरक्षरता का उन्मूलन करने के लिए इनके अद्वितीय एवं उत्कृष्ट योगदान हेतु, इन्हें वर्ष 1998 में 'रोटरी इन्टरनेशनल इंडिया अवार्ड' से सम्मानित किया गया। विशेष रूप से पिछड़े एवं जनजातीय क्षेत्रों की महिलाओं तथा लड़कियों में साक्षरता के प्रचार तथा शक्ति-सम्पन्नता के लक्ष्य के प्रति समर्पण के कारण ब्रह्मचारिणी कमला बाई को 'देवी अहिल्या बाई होलकर स्त्री शक्ति पुरस्कार, 1999' से सम्मानित किया गया है।

इस सुअवसर पर 'प्राकृतविद्या-परिवार' की ओर से हार्दिक बधाई। —**सम्पादक**

डॉ० हुकमचन्द भारिल्ल के अभिनन्दन-ग्रंथ का लोकार्पण

विश्वविख्यात आध्यात्मिक प्रवक्ता डॉ० हुकमचन्द भारिल्ल के अभिनन्दन-ग्रंथ 'तत्ववेत्ता : डॉ० हुकमचन्द भारिल्ल' का लोकार्पण राजधानी दिल्ली के हृदय-स्थल परेड ग्राउण्ड में पूज्य आचार्यश्री विद्यानन्द जी मुनिराज की पावन सन्निधि में हजारों धर्मानुरागी भाईयों-बहनों की उपस्थिति में दिनांक 8 अप्रैल, 2001 को अत्यंत गरिमापूर्वक सम्पन्न हुआ। इस अवसर पर पूज्य आचार्यश्री ने कहा कि जो मेरे पास है, वह भी मेरा नहीं है; जो ऐसा मानता है, वही श्रेष्ठ विद्वान् है। राग को दुख का कारण बताते हुए उन्होंने कहा कि जिसमें सबका कल्याण है, वही धर्म है। जो अहिंसा को पालता है, वही जैन है। आचार्यश्री ने भगवान महावीर महावीर के 2600वें जन्मकल्याणक महोत्सव के प्रसंग पर आह्वान करते हुए कहा कि महावीर का संदेश घर-घर पहुँचायें। उन्होंने डॉ० भारिल्ल के कृतित्व की सराहना करते हुये उनके सामाजिक योगदान को अतुलनीय बताया तथा कहा कि उन्होंने जो विद्वानों की नई पीढ़ी निर्मित की है, वह इस देश और समाज की अमूल्य निधि है।

मुख्य अतिथि सुश्री निर्मलाताई देशपांडे जी ने अभिनन्दन-ग्रन्थ का लोकार्पण किया और कहा कि राजा तो अपने देश में पूजा जाता है, जबकि विद्वान् सर्वत्र पूजा जाता है। आदिकाल से शिक्षा देने का कार्य जैन शिक्षकों, विद्वानों ने किया लेकिन अपना नाम नहीं चाहा। वे समाज में घुल-मिल कर रहे। आचार्यश्री विद्यानन्द जी ने भारतीय संस्कृति के पुनर्जागरण में नई चेतना और जागृति पैदा की है। हमें भगवान् महावीर के अहिंसा, अनेकान्त एवं अपरिग्रह सिद्धांतों को आचरण में उतारना है। विनोबा और गांधी ने भी उनका अमल किया। समारोह की अध्यक्षता करते हुए भारतीय दिगम्बर जैन तीर्थक्षेत्र कमेटी के अध्यक्ष साहू रमेश चन्द्र ने डॉ० भारिल्ल को उत्सवपुरुष बताते हुए कहा कि

उन्होंने साहित्य-सृजन और समाजसेवा के क्षेत्र में अतुलनीय योगदान दिया है।

डॉ० भारिल्ल जी को सुश्री निर्मलाताई देशपांडे ने प्रशस्ति-पत्र भेंटकर एवं इन्दुजी ने शॉल ओढ़ाकर सम्मानित किया। अनेक संस्थानों एवं समाजसेवियों ने भी डॉ० भारिल्ल का स्वागत किया। आभार व्यक्त करते हुए डॉ० भारिल्ल ने कहा कि यह समारोह आचार्य-परम्परा से उपलब्ध जिनवाणी की उपासना एवं आराधना का सम्मान है। आचार्यश्री समाज को जोड़ने और सबको गले लगाने में विश्वास रखते हैं।

समारोह के संयोजक चक्रेश जैन ने सभी समागत अतिथियों और विद्वानों का स्वागत किया। समारोह का संचालन डॉ० सुदीप जैन ने किया। —सम्पादक **

हरिचरण वर्मा 'संगीत-समयसार' पुरस्कार से सम्मानित

राष्ट्रसंत आचार्यश्री विद्यानन्द जी मुनिराज के सान्निध्य में भारतीय संगीत के विशेषज्ञ श्री हरिचरण वर्मा को वैशाली मण्डप में आयोजित भव्य समारोह में डी०सी० जैन फाउण्डेशन द्वारा कुन्दकुन्द भारती न्यास के तत्त्वावधान में प्रवर्तित प्रथम 'संगीत-समयसार-पुरस्कार' प्रदान किया गया। इस अवसर पर आचार्यश्री ने अपने आशीर्वचन में कहा कि जैन शास्त्रों में शांत और वीतराग रस के भजन अधिक हैं, जो मनुष्य को मोक्षमार्ग की ओर ले जाते हैं। श्रृंगार रस के भजन व्यक्ति को संसार की ओर ले जाते हैं। यदि मनुष्य नित्यप्रति कुछ देर 'ओम्' शब्द का उच्चारण कर ले, तो उसकी 72 नाड़ियां स्वस्थ हो जाती हैं और वह आरोग्य प्राप्त कर प्रफुल्लित हो जाता है।

समारोह के मुख्य अतिथि न्यायमूर्ति श्री विजेन्द्र जैन ने संगीत के क्षेत्र के हरिचरण वर्मा के उल्लेखनीय योगदान की सराहना करते हुए इसे भक्ति-संगीत का सम्मान बताया। भारतवर्षीय दिगम्बर जैन तीर्थक्षेत्र कमेटी के अध्यक्ष साहू रमेशचंद्र जैन ने कहा कि जीवन में कला और साहित्य का विशिष्ट महत्त्व है। संगीत से पत्थर पिघल जाता है। समारोह की अध्यक्ष पद्मभूषण श्रीमती शरनरानी बाकलीवाल जी ने श्री वर्मा को पुरस्कार समर्पित किया।

कार्यक्रम के संयोजक एवं संचालक डॉ० सुदीप जैन ने प्रशस्ति-पत्र का वाचन करते हुए बताया कि श्री वर्मा ने शताधिक शोधपूर्ण कार्यक्रम, 50 से अधिक रूपक, 2000 से अधिक गीत, भजन, गजल आदि की प्रस्तुति की है। 'सूरदास' फिल्म का संगीत-निर्देशन भी उन्होंने किया। दक्षिण अमेरिका में इनको 'संगीत मार्तण्ड' सम्मान मिला और जार्जटाउन में इनके नाम पर 'वर्मा स्ट्रीट' का नामकरण हुआ। वे आकाशवाणी में भारतीय संगीत के 'मुख्य प्रस्तोता' के रूप में प्रतिष्ठित हैं। श्री वर्मा को सरस्वती प्रतिमा, शॉल, माला, स्वर्णपदक एवं एक लाख रुपए प्रदान कर 'भक्ति संगीत शिरोमणि' की उपाधि से अलंकृत किया गया। —**सम्पादक** **

प्राकृतविद्या के स्वत्वाधिकारी एवं प्रकाशक श्री सुरेशचन्द्र जैन, मंत्री, श्री कुन्दकुन्द भारती, 18-बी, स्पेशल इन्स्टीट्यूशनल एरिया, नई दिल्ली-110067 द्वारा प्रकाशित; एवं मुद्रक श्री महेन्द्र कुमार जैन द्वारा, पृया ऑफसेट्स प्रा० लि०, नई दिल्ली-110028 पर मुद्रित।

भारत सरकार पंजीयन संख्या **48869/89**

इस अंक के लेखक-लेखिकायें

1. स्व० डॉ० मंगलदेव शास्त्री—आप संस्कृतविद्या एवं भारतीय संस्कृति के मूर्धन्य मनीषी थे। सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय के यशस्वी कुलपति रहे। इस अंक में प्रकाशित आलेख 'भारतीय दर्शन एवं जैनदर्शन' आपके द्वारा लिखित है।

2. स्व० पं०सुखलाल संघवी—आप जैनदर्शन एवं भारतीय संस्कृति के मूर्धन्य मनीषी थे। इस अंक में प्रकाशित आलेख 'दिगम्बर-परम्परा के मनीषी और वर्तमान स्थिति' आपके द्वारा लिखित है।

3. डॉ० राजाराम जैन—आप मगध विश्वविद्यालय में प्राकृत, अपभ्रंश के 'प्रोफेसर' पद से सेवानिवृत्त होकर श्री कुन्दकुन्द भारती जैन शोध संस्थान के 'निदेशक' हैं। अनेकों महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों, पाठ्यपुस्तकों एवं शोध आलेखों के यशस्वी लेखक भी हैं।

इस अंक के अन्तर्गत प्रकाशित 'अपभ्रंश भाषा एवं उसके कुछ प्राचीन सन्दर्भ' नामक आलेख के लेखक आप हैं।

पत्राचार-पता—महाजन टोली नं० 2, आरा-802301 (बिहार)

4. डॉ० कलानाथ शास्त्री—आप संस्कृतविद्या एवं भारतीय संस्कृति के मूर्धन्य मनीषी हैं। राजस्थान विश्वविद्यालय के कृतकार्य प्रोफेसर डॉ० कलानाथ शास्त्री जी की लेखनी से प्रसूत लेख 'प्राकृत काव्यशैली का दूरगामी प्रभाव' इस अंक के अन्तर्गत प्रकाशित है।

स्थायी पता—सी-8, पृथ्वीराज रोड, जयपुर-302001 (राज०)

5. डॉ० महेन्द्र सागर प्रचंडिया—आप जैनविद्या के क्षेत्र में सुपरिचित हस्ताक्षर हैं, तथा नियमित रूप से लेखनकार्य करते रहते हैं। इस अंक में प्रकाशित 'नव ख्रष्टाब्दि अष्टक' नामक कविता के रचयिता आप हैं।

स्थायी पता—मंगल कलश, 394, सर्वोदय नगर, आगरा रोड़, अलीगढ़-202001 (उ०प्र०)

6. प्रो० माधव श्रीधर रणदिवे—आप छत्रपति शिवाजी कॉलेज, सतारा (महा०) में प्राकृत के प्रोफेसर रहे और महाराष्ट्र के अधिकांश कॉलेजों में प्राकृत के प्रचार-प्रसार में आपका अनन्य योगदान रहा। अवकाश-ग्रहण करने के बाद भी उन्होंने प्राकृतविद्या के विविध क्षेत्रों में कार्य करते आ रहे हैं।

इस अंक में प्रकाशित 'आयरियप्पवरो सिरिदेसभूसणो' शीर्षक का आलेख आपकी शोधपूर्ण लेखनी से प्रसूत है।

स्थायी पता—गोधूलि बिल्डिंग, छत्रपति रोड़, सतारा (महाराष्ट्र)।

7. डॉ० विद्यावती जैन—आप मगध विश्वविद्यालय में वरिष्ठ रीडर हैं तथा जैन साहित्य

एवं प्राकृतभाषा की अच्छी विदुषी हैं। इस अंक में प्रकाशित 'पज्जुण्णचरिउ' शीर्षक लेख आपका है। आप प्रो० (डॉ०) राजाराम जैन की सहधर्मिणी हैं।

स्थायी पता—महाजन टोली नं० 2, आरा-802301 (बिहार)

8. डॉ० रमेशचंद जैन—आप भी जैनदर्शन के गवेषी विद्वान् है। संप्रति आप जैन कॉलेज, बिजनौर (उ०प्र०) में संस्कृत एवं जैनदर्शन के विभागाध्यक्ष हैं।

इस अंक में प्रकाशित 'हड़प्पा की मोहरों पर जैनपुराण ओर आचरण के सन्दर्भ' नामक आलेख आपके द्वारा लिखित है।

स्थायी पता—जैन मंदिर के पास, बिजनौर-246701 (उ०प्र०)

9. डॉ० उदयचंद जैन—सम्प्रति सुखाड़िया विश्वविद्यालय, उदयपुर (राज०) में प्राकृत विभाग के अध्यक्ष हैं। प्राकृतभाषा एवं व्याकरण के विश्रुत विद्वान् एवं सिद्धहस्त प्राकृत कवि हैं।

इस अंक में प्रकाशित 'साहू असोग (साहू अशोक)' शीर्षक की प्राकृत कविता आपकी लेखनी से प्रसूत हैं।

स्थायी पता—पिऊकुंज, अरविन्द नगर, ग्लास फैक्ट्री चौराहा, उदयपुर-313001 (राज०)

10. डॉ० (श्रीमती) माया जैन—आप जैनदर्शन की अच्छी विदुषी हैं। इस अंक में प्रकाशित 'भाषा परिवार और शौरसेनी प्राकृत' शीर्षक आलेख आपकी लेखनी से प्रसूत है।

स्थायी पता—पिऊकुंज, अरविन्द नगर, ग्लास फैक्ट्री चौराहा, उदयपुर-313001 (राज०)

11. डॉ० सुदीप जैन—श्री लाल बहादुर शास्त्री राष्ट्रिय संस्कृत विद्यापीठ, नई दिल्ली में 'प्राकृतभाषा विभाग' में उपाचार्य एवं विभागाध्यक्ष हैं। तथा प्राकृतभाषा पाठ्यक्रम के संयोजक भी हैं। अनेकों पुस्तकों के लेखक, सम्पादक। प्रस्तुत पत्रिका के 'मानद सम्पादक'। इस अंक में प्रकाशित 'सम्पादकीय', के अतिरिक्त 'दशलक्षण धर्म' एवं 'आषाढी पूर्णिमा : एक महत्त्वपूर्ण तिथि' शीर्षक आलेख आपके द्वारा लिखित हैं।

स्थायी पता—बी-32, छत्तरपुर एक्सटैंशन, नंदा फार्म के पीछे, नई दिल्ली-110030

12. श्रीमती रंजना जैन—आप प्राकृतभाषा, जैनदर्शन एवं हिन्दी-साहित्य की विदुषी लेखिका हैं। इस अंक में प्रकाशित आलेख 'यति-प्रतिक्रमण की विषयगत समीक्षा' आपके द्वारा लिखित है।

स्थायी पता—बी-32, छत्तरपुर एक्सटैंशन, नंदा फार्म के पीछे, नई दिल्ली-110030

13. स्नेहलता जैन—आप अपभ्रंश की शोधछात्रा हैं। इस अंक में प्रकाशित 'भारतीय सांस्कृतिक व भाषिक एकता' शीर्षक आलेख आपके द्वारा लिखित है।

स्थायी पता—14/35, शिप्रापथ, मानसरोवर, जयपुर-302020 (राज०)

14. श्रीमती मंजूषा सेठी—आप प्राकृतभाषा एवं साहित्य की अच्छी विदुषी हैं। इस अंक में प्रकाशित आलेख 'ईसापूर्व के महत्त्वपूर्ण शिलालेखों की भाषा में तत्कालीन शौरसेनी प्राकृत का प्रभाव' लेख आपके द्वारा लिखित है।

स्थायी पता—सी-9/9045, वसंतकुंज, नई दिल्ली-110070

15. प्रभात कुमार दास—आप प्राकृतभाषा एवं साहित्य के शोधछात्र हैं। इस अंक में प्रकाशित आलेख 'प्राचीन नाटकों में प्रयुक्त प्राकृतों की सम्पादकीय अवहेलना' लेख आपके द्वारा लिखित है।

पत्राचार पता—शोधछात्र प्राकृतभाषा विभाग, श्री ला०ब०शा०रा०सं० विद्यापीठ, नई दिल्ली-16

'सर्वास्विह हि शुद्धासु जातिषु द्विजसत्तमाः ।
शौरसेनीं समाश्रित्य भाषा काव्येषु योजयेत् ।।' —(*नाट्यशास्त्र*)

अर्थः—हे श्रेष्ठ ब्राह्मणो ! सभी शुद्ध जातिवाले लोगों के लिए शौरसेनी प्राकृतभाषा का आश्रय लेकर ही काव्यों में भाषा का प्रयोग करना चाहिये।

शौरसेनी प्राकृत

"शौरसेनी प्राकृतभाषा का क्षेत्र कृष्ण-सम्प्रदाय का क्षेत्र रहा है। इसी प्राकृतभाषा में प्राचीन आभीरों के गीतों की मधुर अभिव्यंजना हुई, जिनमें सर्वत्र कृष्ण कथापुरुष रहे हैं और यह परम्परा ब्रजभाषा-काव्यकाल तक अक्षुण्णरूप से प्रवाहित होती आ रही है।" —**डॉ० सुरेन्द्रनाथ दीक्षित**

(*भरत और भारतीय नाट्यकला, पृष्ठ 75*)

"भक्तिकालीन हिंदी काव्य की प्रमुख भाषा 'ब्रजभाषा' है। इसके अनेक कारण हैं। **परम्परा से यहाँ की बोली शौरसेनी 'मध्यदेश' की काव्य-भाषा रही है। ब्रजभाषा आधुनिक आर्यभाषाकाल में उसी शौरसेनी का रूप थी।** इसमें सूरदास जैसे महान् लोकप्रिय कवि ने रचना की और वह कृष्ण-भक्ति के केन्द्र 'ब्रज' की बोली थी, जिससे यह कृष्ण-भक्ति की भाषा बन गई।" —**विश्वनाथ त्रिपाठी**

(*हिंदी साहित्य का संक्षिप्त इतिहास, पृ० 18*)

"मथुरा जैन आचार्यों की प्रवृत्तियों का प्रमुख केन्द्र रहा है, अतएव उनकी रचनाओं में **शौरसेनी**-प्रमुखता आना स्वाभाविक है। श्वेतांबरीय आगमग्रन्थों की **अर्धमागधी** और दिगम्बरीय आगमग्रन्थों की **शौरसेनी** में यही बडा अन्तर कहा जा सकता है कि 'अर्धमागधी' में रचित आगमों में एकरूपता नहीं देखी जाती, जबकी 'शौरसेनी' में रचितभाषा की एकरूपता समग्रभाव से दृष्टिगोचर होती है।" —**डॉ०जगदीशचंद्र जैन**

(*प्राकृत साहित्य का इतिहास, पृ० 30-31*)

"प्राकृत बोलियों में बोलचाल की भाषायें व्यवहार में लाई जाती है, उनमें सबसे प्रथम स्थान शौरसेनी का है। जैसा कि उसका नाम स्वयं बताता है, इस प्राकृत के मूल में शूरसेन के मूल में बोली जानेवाली भाषा है। इस शूरसेन की राजधानी मथुरा थी। -**आर. पिशल** (*कम्पेरिटिव ग्रामर ऑफ प्राकृत लैंग्वेज, प्रवेश 30-31*)

प्राकृतभाषा के प्रयोक्ता

"मथुरा के आस-पास का प्रदेश 'शूरसेन' नाम से प्रसिद्ध था और उस देश की भाषा 'शौरसेनी' कहलाती थी। उक्त उल्लेख से इस भाषा की प्राचीनता अरिष्टनेमि से भी पूर्ववर्त्ती काल तक पहुँचती है।"

(...ताब्दी महोत्सव व्यवस्था समिति, सरदारशहर (राज०) द्वारा प्रकाशित ...त व्याकरण एवं कोश की परम्परा' नामक पुस्तक से साभार उद्धृत)

(भारत सरकार पंजीयन संख्या 48869/89)

राजगृह में भगवान् महावीर के समवसरण
में जाते हुये पथिकों को जलपान कराती बालिका

''पायन्त्यिध्वगान् गीत्वा बालिका जलमेकशः।
पुनस्तास्ते न मुञ्चन्ति केतकी भ्रमरा इव।।''
-(धर्मसंग्रह श्रावकाचार, 7/109)

अर्थः- मगध देश की कुलकुमारी-बालिकायें मार्ग में चलने वाले लोगों को मधुर-मधुर गीतों को गाकर जल पिलाती हैं। इसी से पथिक लोग भी फिर उनके जलपान को उसी प्रकार नहीं छोड़ते हैं, जैसे केतकी पुष्प को भ्रमर नहीं छोड़ते हैं।